वेदभारती

[स्नातककक्षोपयोगिसंकलनम्]



सम्पादक

डा० सुधीरकुमारगुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदक।

जयपुर राजस्थानविश्वविद्यालयस्य

संस्कृतविभागे प्राध्यापक (रीडर)

भारती  मन्दिरम्

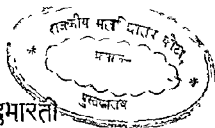
अनुसन्धानशाला

आर— ७, विश्वविद्यालयपुरी, जयपुरम्-४

प्रकाशक-
श्री प्रमोदकुमारगुप्त
मुद्रण प्रकाशनाध्यक्ष
भारतीमन्दिरम् अनुसधानशाला,
आर-२, विश्वविद्यालयपुरी
जयपुरम्-४।

मूल्यम्—४-०० (साधारणो बन्ध)
४-८० (पक्त्रो बन्ध)

मुद्रकौ
वैशाली प्रेस — पृष्ठानि १ अ-५२ अ।
अजन्ता प्रिण्टर्स,
जयपुरम्-३ - शेष सर्वम्



वेदभारती

विषय-सूची

[कोष्ठकों में सर्वत्र सदर्भसख्या दी गई है ।]

कृपया इस रचना पर

अपनी सम्मति

अवश्य

भेजें

ॐ या मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

वेदभारती

उपोद्घात

१ वेद भारत की विशेष रूप से अमूल्य निधि है। भारतीय जीवन के बहुसंख्यक जनों के जीवन पर मन्त्रों और उन के चारों ओर निर्मित साहित्य की अमिट छाप है। मन्त्रों के भावों को समझाने, रोचक बनाने और जीवन का अक्षुण्ण अंग बनाने के लिए ही प्राचीन ऋषियों और आचार्यों ने ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्रों और उपनिषदों की रचना की। ब्राह्मणों में यज्ञ और यज्ञों के दर्शन को रोचक बनाने के लिए कतिपय आख्यानों की भी सृष्टि की गई है। उपनिषदों की शैली तो बड़ी रोचक है, उन में आख्यान अंश भी नहीं कम है।

२ अतः प्राचीन काल से वेद का अध्ययन और अध्यापन भारत के कोने-कोने में स्थान पाता रहा है। आज एम० ए० में तो वेद के एक या अधिक पत्र होते ही हैं, स्नातकीय कक्षाओं में भी इस को स्थान मिला है। तथापि साधारण स्नातकीय कक्षाओं के लिए उपयुक्त ऐसे संकलन का सर्वथा अभाव था जो हिन्दी के माध्यम में उच्च स्तरीय अध्ययन में सहायक सामग्री से युक्त वैदिक साहित्य के विविध रूपों का आस्वादन करा सके और विद्यार्थियों में वेदाध्ययन के लिए कुछ रुचि उत्पन्न कर सके। इसी अभाव की पूर्ति के निमित्त इस संकलन की रचना की गई है।

३ इस संकलन की अनुभूति दिल्ली विश्वविद्यालय के बी० ए० पास के १९६९ के प्रथम पत्र के पाठ्यक्रम से ली गई है। यहाँ

पर उस पाठ्यक्रम के साथ-साथ कुछ अन्य पाठ भी दिए गए है जो उस पाठ्यक्रम म निर्धारित अ शो के पूर्व भाग या उत्तरार्द्ध के रूप म है। इन का विवरण नीचे दिया जा रहा है। सूत्रग्रन्थो से भी कुछ अश इस म सकलित करने अभीष्ट थे। इस के लिए पारस्करीयोपनयनसूत्र सब से अधिक उपयुक्त मालूम पडे। उन का लेखक का अलग से सम्करण उपलब्ध है। अत उ हे यहा नही रक्खा गया है।

४ इस सकलन म तीन ही वेदमन्त्र--गायत्री मन्त्र विश्वानि देव और तच्चक्षुर रक्खे गए है। इन मे शुभ बुद्धि और कर्मो तथा भद्र की कामना के साथ उत्साह-पूर्वक सौ वर्ष का जीवन बिताने की कामना व्यक्त की गई है। इन तीनो मन्त्रो म लौकिक जीवन म सफलता की कु जी और परलोक का परिष्कार निहित है। इन की भाषा परम सरल है।

५ *ब्राह्मणो मे दो आख्यानो के अ श लिए गए है*--ऐतरेय ब्राह्मण से शुन शेप के आख्यान के ३३ वे अध्याय के दूसरे और तीसरे खण्ड लिए गए है। इन दोनो को अलग-अलग पाठो मे रक्खा गया है। दिल्ली के पाठ्यक्रम की दृष्टि मे पहले तीसरे खण्ड को और उस के बाद दूसरे खण्ड को रक्खा गया है। इन के बीच मे मनु और मत्स्य के जलप्लावन की विश्वप्रसिद्ध कथा को दो भागो म बाट कर प्रस्तुत किया गया है।

६ तैत्तिरीयोपनिषद् से तप और आचार्य के अनुशासन से सम्बद्ध प्रकरण लिए गए हैं। काण्व यजुर्वेद सहिता का ईशोपनिषद् के रूप मे प्रख्यात अन्तिम अध्याय अविकल रक्खा गया है। यह उपनिषद् मन्त्रो शाखाओ और उपनिषदो का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि इस के अनेको सस्करण उपलब्ध है, तथापि अन्य अ शो के साथ उपर्युक्त विशेषता के कारण इसे यहा सकलित किया गया है।

७ समस्त सकलन को पाठो म बाट कर उन को उपयुक्त शीर्षक दे दिए गए हैं। ये शीर्षक सरल, सक्षिप्त और पाठ के विषय क परिचायक हैं। प्रत्येक पाठ के पहले उपयुक्त सक्षिप्त भूमिका दी गई है। मूल पाठ को मोटे अक्षरो म, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद को उस से कम मोटे छापे म और टिप्पणियो तथा भाव को बारीक छापे म कराया गया है। भूमिका का छापा शेष भागो से भिन्न है। भिन्न भिन्न कालो म लिखे जाने के कारण सटिप्पण हिन्दी अनुवाद और टीका म दो-चार स्थलो पर कुछ विचारभेद गा प्रतीत होगा। वह आपातिक है मौलिक नही। सस्कृतटीका लिखते समय हिन्दी भाग प्रेस म था। अत उन म समन्वय सम्भव न हो सका। ईशोपनिपद् के मन्त्र ३ म हिन्दी अनुवाद वाले पाठ को ही मूल और प्रामाणिक मानना उचित मालूम पडता है क्या कि यजुर्वेद म भी यही पाठ है टीका वाला नही।

८ यद्यपि यहा सकलित सब अशो पर सायण और शकराचार्य आदि के भाष्य मिलते है, तथापि बी ए के साधारण विद्यार्थी के लिए वे अनेक बार कठिन हैं, अनेक बार अपर्याप्त और अस्पष्ट है। अत एक परिशिष्ट म समस्त ग्रन्थ के पाठो की सरल पदावली म लगभग प्रत्यक पद की व्याख्या करने वाली, भाव को स्पष्ट करने वाली, सरलता से बोधगम्य नूतन भावप्रकाशिका सुधीरिणी सस्कृतटीका भी दी गई है। इस टीका म मूल पदो को बहुश बारीक अक्षरो म रख कर टीका के व्याख्यान से अलग दिखाया गया है। कुछ पाठो म यह सम्भव नही हो सका है। इस टीका म सामान्यत व्याकरण और दर्शन के जटिल और अनावश्यक विवेचनो का परिहार किया गया है सामान्यत इस म सन्धियो का भी परिहार किया गया है। फिर भी कुछ हो ही गई हैं। परन्तु वे सुगम ही हैं।

६ ग्रन्थ मे टिप्पणियो म व्याख्यात पदो की अनुक्रमणिक भी दी गई है। विद्यार्थियो को अनुक्रमणिकाओ का प्रयोग समझ मे आजाने पर ये उन के बडे उपयोग की रहती है।

१० सक्षेप मे पुस्तक को पर्याप्त प्रामाणिक, उपयोगी औ पाठ्यक्रम मे निर्धारित के स्तर का बनाने का प्रयास किया गय है। यदि यह सकलन विद्यार्थियो को वेदाध्ययन मे सहायक औ रुचि उत्पन्न करने वाला हो सका और विश्वविद्यालयो क अधि कारियो को अपने पाठ्यक्रम मे रखने के लिए उपयुक्त मालूम पड तो लेखक का परिश्रम सफल होगा और परमेश की परा अनुकम्पा होगी।

११ इस ग्रन्थ की रचना म मनु की कथा और तैत्तिरीयोप निषद् के अ शो क अनुवाद टिप्पणिया और भूमिकाए लेखक ने अपने पुराने ग्र थ 'गद्यपारिजातविवरण' से परिवर्धन और सशो धन के साथ अपनाए गए है। उस कृति म मूल पाठ नही छपा था इन अ शो और शेष भाग की रचना म अनेको ग्र थो से सहायत ली गई है। इन के लेखको और प्रकाशको का परम धन्यवाद है।

१२ १५-१-६८ को श्री र र दिवाकर के भाषण म सभा पतिपद मे भाषण देते हुए डा महाजनी उपकुलपति उदय पुर विश्वविद्यालय ने आचार्यानुशासन का उल्लेख करते हुए एक बहुत सुन्दर विचार दिया कि इस उपदेश का मूल लक्ष्य भाव नागरिको म समाजसेवा के क्रियात्मक आदश को सक्रान्त करन है। आचार्य का अपने आदर्श और उदाहरण मे उपदेश देना ड महाजनी के विचार को पुष्ट करता है। आप के मत म इस उपदे मे कुशलान्न प्रमदितव्यम् के कुशल' का भाव समाजसेवा है आत्मोन्नति कर समाज और राष्ट्र की सेवा करना रत सस्कृति का प्रमुख तत्त्व रहा है। यज्ञ और दान-दोनो य यही भावना है।

१३ ग्रन्थ के प्रारूपो के शोधन मे दृष्टिदोष से अनेको भूल रह जानो स्वाभाविक है। मानव स्वभाववश और भी अन्य अशुद्धिया रही हो सकती है। विज्ञ पाठको के उत्तरोत्तर परिष्कार के लिए सुझावो के लिए आभारी रहूँगा।

१४ मुद्रण मे प्रयास करने पर भी प्रेस मे के टाइप को नही जुटा सका। अत एक स्थल पर ॠ ॠ के द्वारा इगित कर शेष सर्वत्र ॅ मे इसे व्यक्त किया गया है।

१५ वैदिक व्याकरण लौकिक और बी ए मे पूर्व पढी गई व्याकरण से कई धाराओ म भिन्न है। वैदिक सदर्भो को समझने के लिए उस का कुछ परिचय आवश्यक ह। इस ग्रन्थ म यह परिचय पदा पर टिप्पणी देते हुए ही दिया गया है, जिस से साधारण से-साधारण पाठक भी उसे समझ सके और उसे बोझ न समझे। इस मे भी व्याकरण की जटिल प्रक्रिया आदि का परिहार किया गया है। जो पाठक कुछ विस्तृत परन्तु सक्षिप्त रूप म वैदिक व्याकरण का परिचय करना चाह वे लेखक के वेदनावण्यम् आ ऋक्सूक्तानि मे एतद्विषयक परिशिष्ट की सहायता ले सकते हैं।

१६ भारती मन्दिर के अधिपतियो ने इस के मुद्रण और प्रकाशन की उचित व्यवस्था की है और अपनी अभिरुचि दिखाई है। उन को मेरी शुभ आशिषे ह। परमपिता परमात्मा की महती अनुकम्पा से जीवन के तृतीय चरण की एक यह देन भी पूर्ण हुई, अत उन का कोटिश धन्यवाद है।

आर-२ विश्वविद्यालयपुरी,   म न गुप्त
जयपुर-४   २४-१-६८

पाठक की टिप्पणियां



वेदपरिचय

१ भारतीय आर्यों की मूल धर्मपुस्तके वेद कहलाती है। वेद का अर्थ 'ज्ञान' है। यह पद विद् धातु से बनता है। संस्कृत म विद् धातु के अर्थ 'जानना विचार करना प्राप्त करना और विद्यमान होना' है। वेद इन सब अर्थों को व्यक्त करता है। अत हिंदुओ का विचार है कि वेद म सब सत्य विद्याओ का मूल पाया जाता है। इन्हें सृष्टि के आदि म परमेश्वर ने मानवो के कल्याण और मार्गनिर्देशन के लिए चार आदि ऋषियो द्वारा प्रकट किया। ये ऋषि अग्नि, वायु आदित्य और अगिरा थे जिन के माध्यम से क्रमश ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद व्यक्त हुए। इस प्रकार मूल वेद चार हैं। इन की कुछ शाखाए भी हैं। वेदो को सहिता भी कहते हैं। वेदो की शाखाए शाखासहिता नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद की शाकल सहिता, यजुर्वेद की माध्यन्दिन वाजसनेयी सहिता, सामवेद की कौथुम सहिता और अथर्ववेद की शौनक सहिता मूल वेद मानी जाती है। शाखासहिताओ म यजुर्वेद की तैत्तिरीय कठ-कपिष्ठल, काठक और मैत्रायणी, सामवेद की जैमिनीय और अथर्ववेद की पैप्पलाद सहिताए प्रसिद्ध हैं। इन शाखा-सहिताओ म मूल वेदो के मन्त्र ही कुछ पाठभेद क्रमभेद और व्याख्या आदि के साथ सकलित किए गए है। वेदो के विषयो का व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यको और उपनिषदो म मिलता है। वेदो के धर्म के यज्ञ, सस्कार और व्यवहार आदि क्रियाकलापो का वर्णन एक विचित्र सक्षिप्त

शैली मे सूत्रग्रन्थों म मिलता है। वेदों की रक्षा के लिये हिन्दुओ ने अनेको उपाय किए जिन के कारण वे आज तक सुरक्षित चले आ रहे हैं और उन म किसी प्रकार का भी कोई विकार नहीं आया है। इन की सुरक्षा के लिए ही इन्हे गुरुपरम्परा से मुख से सुन कर याद किया जाता था। अत इन्हे श्रुति कहते हैं।

२ आधुनिक विद्वान् हिन्दुओ के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं है। वे वेदों को ऋषियो की रचना मानते है, जो ईसा से १५०० वर्ष पूर्व निर्मित हो चुके थे। कुछ भारतीय विद्वान् वेदो की रचनातिथि को बहुत प्राचीन मानते हैं। इतने लम्बे काल म मौखिक याद किये जाने के कारण इन म कुछ विकार आ जाने स्वाभाविक है। यही नहीं एक ही वेदसंहिता म भी भाषा और विषय के भेद से भिन्न-भिन्न कालो के रचना, स्तर भी दिखाए गए है।

मन्त्र, त्रयी और अथर्ववेद

३ वेदो के वाक्य मन्त्र कहलाते है। ये पद्यात्मक भी हो सकते हैं और गद्यात्मक भी। स्तुतिप्रधान मन्त्रो को ऋक् या ऋचा और कर्म के विधायक मन्त्रो को यजु कहते है। जो मन्त्र गाए जाते है उन्हे साम कहते है। ऋग्वेद मे समस्त मन्त्र पद्यात्मक है और ऋचा कहलाते है। यजुर्वेद मे गद्य और पद्य दोनो हैं। इस के मन्त्र यजु कहलाते है। सामवेद के सब मन्त्र गाये जाते है। अथर्ववेद मे भी गद्य-पद्यात्मक दोनो प्रकार के मिलते है। अथर्ववेद के मन्त्रो मे ऋचाओं की संख्या पर्याप्त है। वदमन्त्रो के इन तीन प्रकारो के कारण इन्हे त्रयी भी कहा है। आजकल अथर्ववेद को पीछे की रचना माना जाता है और इसे जादू टोने और आयुर्वेद का ग्रन्थ कहा जाता है। इस मे उच्च कोटि का दर्शन भी पुष्कल परिमाण मे मिलता है

सामवेद के मन्त्र लगभग सभी ऋग्वेद से लिये गये हैं। केवल ७५ मन्त्र नए हैं। इन का उपयोग सोमयाग में होता है। इन्हें 'सामन्' कहते हैं।

यजुर्वेद और यज्ञ

४ यजुर्वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन और विधान है। यह अग्निहोत्र से आरम्भ होता है जिस में अग्नि जला कर घी आदि पदार्थ डाले जाते हैं। अन्य यज्ञ इसी का विकसित और परिवर्धित रूप हैं। इन में अश्वमेध और पुरुषमेध के नाम विशिष्ट हैं। कुछ विद्वान् मानते हैं कि इन में पशुओं और मनुष्यों की आहुति या बलि दी जाती थी परन्तु अन्य इस से सहमत नहीं हैं। यज्ञ के समय सांसारिक सुखों की प्राप्ति, दुःखों और पापों से निवृत्ति आदि की प्रार्थनाएं भी की जाती थीं। इस वेद में ऐसी प्रार्थनाएं प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। इस वेद के भाग अध्याय कहलाते हैं। प्रत्येक अध्याय में मन्त्र संकलित हैं। कुल अध्याय चालीस हैं। अध्यायों में अधिक से अधिक ११७ और कम से कम १३ मन्त्र मिलते हैं। अन्तिम अध्याय कुछ अन्तर से भेद से ईशोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है और एक ईश्वर की सत्ता का वर्णन करता है। शेष अध्यायों की प्रार्थनाएं अनेकों देवताओं को सम्बोधित की गई हैं। इन देवताओं के नामों को कुछ विद्वान् ईश्वर के ही विभिन्न नाम मानते हैं। ये सब मन्त्र यज्ञों से सम्बन्धित हैं।

ऋग्वेद

५ इन सब वेदों का आधार ऋग्वेद है क्योंकि उन में बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। ऋग्वेद ही संसार के साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ भी है। इस के दस भाग हैं जो मण्डल कहलाते हैं। प्रत्येक मण्डल में कुछ सूक्त हैं। प्रत्येक सूक्त

म कुछ मन्त्र सकलित है। इन सूक्तो मे कम से कम एक और अधिक से अधिक ५८ मन्त्र पाए जाते है। प्रत्येक मन्त्र का एक ऋषि एक वा अधिक देवता और एक छन्द होता है। ऋषि मन्त्र का प्रकाशक या रचयिता होता है। मन्त्र मे जिस नाम से देवता की स्तुति की जाती है या विषय का प्रतिपादन होता है वह नाम मन्त्र का देवता होता है और जिस छन्द म मन्त्र लिखा होता है। वह मन्त्र का छन्द कहलाता है। इस वेद म अग्नि इन्द्र, वरुण रुद्र, मरुत्, सविता उषा, सूर्य और सोम आदि देवी देवताओ की स्तुति और उन से प्रार्थना के मन्त्र सकलित किये गये है। इन मन्त्रो म भौतिक सुखो की कामना की गई है और सर्वत्र आशावाद ही भरा पडा है। निराशा का वहा लेश भी नही है। यज्ञ का इस म भी प्राधान्य है। यज्ञ के मुख्य लक्ष्य परोपकार और आत्मकल्याण है। वहा दान सत्य और अहिंसा की भावना प्रचुर है परन्तु शत्रु के नाश म कोई सकोच नही है। राक्षसो की कल्पना भी की गई है। जो अनेक बार मनुष्य के मार्ग म आने वाली बाधाए, दु ख और रोग आदि ही है। देवता राक्षसो को मारने वाले बताए गए है। देवो के साथ स्तोता मैत्री की भावना रखता है। उन म पारस्परिक आदान प्रदान होता है।

६ इस सकलन में तीन मन्त्रो का सग्रह है उन म से पहला गायत्री मन्त्र है दूसरे मे कल्याण की और तीसरे म दीर्घायु की कामना है।

गायत्रीमन्त्र

भूमिका

७ वेद का प्रमुख लक्ष्य मानव के ऐहलौकिक और पारलौकिक जीवन मे सुख की सृष्टि और उस के लिये भावना

उत्पन्न करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति उत्साहपूर्ण और आशा पर निर्भर जीवन से हो सकती है। जब तक मनुष्य की बुद्धि निर्मल है, वह अच्छे कर्म करेगा और उत्साह से जीवन बितायगा। इसी लिए वैदिक भाषा में बुद्धि और कर्म दोनों का वाचक एक ही पद भी मिलता है—'धी'। गायत्री मन्त्र में परमात्मा से इसी 'धी'—बुद्धि और कर्म की शुद्धि की प्रार्थना की गई है।

८ यह मन्त्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में मिलता है। ऋषि गाथिन विश्वामित्र देवता सविता और छन्द गायत्री है। देवता के नाम पर इसे सावित्री, छन्द के नाम पर गायत्री और जीवन का मूलमन्त्र होने से अध्यापन के प्रारम्भ में गुरु द्वारा सब से पहले पढ़ाए जाने से गुरुमन्त्र कहते हैं। भारतीयों में इस मन्त्र से बढ़ कर और किसी मन्त्र का महत्त्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि प्रातः और सायं इस का जप करे और अपने आप को इस के अनुरूप ढाले। इस के जप से शरीर में शक्ति—वीर्य की वृद्धि और बुद्धि का विकास होता माना गया है। अतः विद्यार्थियों को स्वप्नदोष आदि होने पर मनु ने मनुस्मृति में इस का जप करने का विधान किया है।

९ मन्त्र—

[गाथिनो विश्वामित्र । सविता । गायत्री]

तत् सवितुर् वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात्॥

[ऋग्वेद ३।६२।१० सामवेद १४६२ यजुर्वेद ३।३५
२२।९ ३०।२ ३६।३]

१० अर्थ-[हम] (सवितु) [जगदुत्पादक] सवितृ [नामक परमात्मा] (देवस्य) देव के (तत्) उस (वरेण्यम्) श्रेष्ठ [या चुनने योग्य कमनीय] (भर्ग) तेज का (धीमहि) चिन्तन [-ध्यान] करते हैं (य) जो [तेज या परमात्मा] (न) हमारी (धिय) बुद्धियों और कर्मों को (प्रचोदयात्) उत्तम प्रेरणा दे [-अच्छे मार्ग पर चलाए] ।

११ टिप्पणियां-सामान्यत इस मन्त्र से पूर्व तीन शब्द और जोड़े जाते हैं—भूर् भुव और स्व । इन्हें व्याहृति कहते हैं । इन के अर्थ (१) सत् चित और आनन्द (२) प्राण का भी प्राण सब दु खों से छुड़ाने वाला और स्वयं सुखस्वरूप तथा दूसरों को सब सुख प्राप्त कराने वाला (३) प्राणाधार, दु ख निवारक और जगद्व्यापक किए गए हैं । ओ३म् सब मन्त्रों से पहले बोला जाता है । यह परमात्मा का सब श्रेष्ठ मूल नाम माना गया है । परमात्मा अव्यय है और तीनों लिंगों और कालों आदि में एक रूप रहता है । ओ३म् भी अव्यय और सदा एक रूप रहने वाला है । इन चार पदों के साथ मिल कर गायत्री मन्त्र विशेष प्रभावशाली हो जाता है । यहां इन तीनों पदों को नहीं पढ़ा गया है । भूर् भुव और स्व भी अव्यय हैं । तत्—यह तद् से नपुसक लिंग द्वितीया एक वचन का रूप है और वरेण्यम् का विशेषण है । नासदीय सूक्त में 'तद् एक' परमात्मा का नाम है । उसी परमात्मा के नाम तत् का भी यह द्योतक हो सकता है । दयानन्द सरस्वती ऐसा ही मानते हैं । सवितु —सवितृ से षष्ठी एक वचन पुल्लिंग का रूप है । सामान्यत सवितृ सूर्य का पर्याय है । सूर्य जड़ पदार्थ और पराश्रित है, उस में बुद्धि और कर्मों के प्रेरक का सामर्थ्य नहीं । इसी लिए दयानन्द सरस्वती ने सवितृ को √ सू से निष्पन्न करते हुए परमात्मा का वाचक माना है । ज्ञान का उत्पादक होने से 'गुरु' भी सवितृ हैं । वरेण्यम्—√ वृ+ण्य । द्वितीया एक वचन नपुसक लिंग । भर्ग -√ भज +असुन् । तेज या प्रजापति परमात्मा ।

देवस्य—देव म षष्ठी एक वचन पुल्लिग । देव शब्द √ दिव् से बना है । इस धातु के दस अर्थ ह—क्रीडा जीतने की इच्छा व्यवहार द्युति (प्रकाश), स्तुति, मोद, मद स्वप्न, कान्ति और गति । अत देव पद चमकन वाला, स्तुतियोग्य, प्रकाशमान सुखस्वरूप आदि भावो का वाचक है । सामायत इस का अर्थ 'देवता'—शक्तिविशेष लिया जाता ह ।
धीमहि—√ ध्य से विधि लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन का वदिक रूप है । वद म बहुधा सनाम्रो और क्रियाम्रो के रूप लौकिक रूपा से भिन्न भी मिलत ह । √ ध्य–ध्यान करना । दयानन्द सरस्वती इस √ धि धारण करना का रूप मानते प्रतीत होत ह । धिय—धी म द्वितीया बहुवचन स्त्रीलिंग रूप है । वेद म यह कम और बुद्धि दोनो का नाम ह ।
य—यत् से पुल्लिग प्रथमा एक वचन का रूप है । यत और तत सदा साथ रहत है । अत यह तत का द्योतक प्रतीत होता है और नपुसक लिंग म होना चाहिये था । वद म बहुधा लिंगो और विभक्तियो के प्रयोग म लौकिक व्याकरण के नियमा स कुछ भिन्नता भी मिलती ह । दयानन्द सरस्वती ने तत और भग का अर्थ परमात्मा का स्वरूप ल कर य का परमात्मा का वाचक माना है । यहा क अनुवाद का योजना अधिक सीधी मालूम पडती है । प्रचोदयात्—प्र+√चुद+विधि लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । √चुद प्रेरित करना लगाना । अत अच्छी प्रकार—अच्छ माग म प्रेरित कर—लगाए—चलाए ।

२ भद्रकामना—

भूमिका—

१२ दूसरा मन्त्र भी ऋग्वेद का है । यह यजुर्वेद म भी मिलता है । इस के ऋषि श्यावाश्व आत्रेय देवता सविता और छन्द गायत्री है । अत यह भी सावित्री और गायत्री मन्त्र है परन्तु इन नामो से प्रख्यात नहीं है । ये नाम केवल गुरुमन्त्र के लिए ही विशेष रूप से प्रचलित हैं ।

१३ इस मन्त्र मे सवितृ—परमात्मा से सब पापा-दुष्ट कर्मों को दूर कर के कल्याण प्रदान करने की कामना की गई है। दयानन्द सरस्वती को यह मन्त्र इतना रुचिकर लगा है। कि उस ने अपने भाष्यो और ग्रन्थों के अध्यायो आदि के प्रारम्भ म मगला चरण के रूप मे इसे बहुश लिखा है।

१४ मन्त्र—[श्यावाश्व आत्रेय । सविता । गायत्री]

विश्वानि देव सवितर्
दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्रं तन्न आ सुव ॥

[ऋग्वेद ५।८२।५ य० ३०।३।]

१५ अर्थ— हे (देव) दिव्य गुणों वाले (सवितर्) [जगदुत्पादक] सवितृ नामक परमात्मा [हमारे] (विश्वानि) समस्त (दुरितानि) पापों [और] कष्टो का (परा सुव) भली भान्ति सुदूर भेज दो—[अर्थात् नष्ट कर दो]। (यत्) जो कुछ भी (भद्रम्) कल्याणकारी (हो), (तत्) उस को (न) हमार समीप (आ सुव) ले आओ—अर्थात् प्रदान करो।

१६ टिप्पणिया—देव—देव शब्द से सम्बोधन एक वचन पुल्लिग रूप है। सवितर्-सवित -सवितृ स सम्बोधन प्रथमा एक वचन का रूप ह। दातृ आदि के समान रूप चलगे। पहले म त्र मे इस का षष्ठी का रूप आया है। और उस के समान ही यह यहा भी पर मात्मा और सूय का वाचक है। सूय भी जड चेतन का अधिष्ठाता=शासक देव है। मध्यकालीन भाष्यकारो और आधुनिक बहुत मे अनुवादको ने इसे सूय का ही द्योतक माना है। दुरितानि—दुर+√इ + क्त, नपुसकलिग द्वितीया बहुवचन का रूप है। √इ जाना, प्राप्त करना

समझना आदि । अत पाप, कष्ट दुःख आदि । आधुनिक विद्वान् इसे कष्ट वाचक ही मानते है । परा सुव, आ सुव—परा और आ पूर्वक √ सू (अदादि और दिवादि) से लोट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन । वेद म प्रधान वाक्य मे उपसग क्रिया म अलग और स्वतन्त्र रहता है । न —अस्मद से द्वितीया चतुर्थी और षष्ठी बहुवचन का अन्वादेश-वैकल्पिक रूप है । यहा चतुर्थी या षष्ठी का रूप अभिप्रेत है ।

३. दीर्घायुष्काम

भूमिका

१७ तीसरा मन्त्र भी ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनो म आया है । यजुर्वेद की परम्परा म ग्, ह् आदि से तुरन्त पहले आने वाले पदान्त म् को ॐ ꣳ या ँ चिह्नों से अंकित करते हैं और उसे 'गुम्' बोलते है ।

१८ इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि दध्यङ आथर्वण, देवता सूर्य और छन्द भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप है । इस म सूर्य से प्रार्थना की गई है कि हम १०० वर्ष से भी अधिक काल तक स्वस्थ और अविकलेन्द्रिय रहे । सवितृ के समान सूर्य भी परमात्मा और सूर्य का वाचक है ।

१९ मन्त्र—[दध्यङ आथर्वण । सूर्य । भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप ।]

> तच्चक्षुर्देवहित पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
> पश्येम शरद शत जीवेम शरद' शतꣳ
> शृणुयाम शरद, शत प्र ब्रवाम शरद' शतम्
> अदीना, स्याम शरद' शत भूयश्च शरदः शतात् ॥

[य० ३६।२४ ऋ० ७।६६।१६]

२० अर्थ—(पुरस्तात) सामने पूर्व दिशा में (तत्) वह [मुनिर्यात] (देवहितम्) देवताओं के लिए कल्याणकारी (शुक्रम्) देदीप्यमान (चक्षु) नेत्र (उच्चरत) ऊपर निकल आया है। [हम] (शतम्) सौ (शरद) शरद् ऋतुओं [अर्थात्—वर्षों तक (पश्यम) देखते रहें। (शतम्) सौ (शरद) सर्दियों—वर्षों तक (जीवम) जीते रहें। (शतम्) सौ शरद् ऋतुओं [-वर्षों] तक (शृणुयाम) सुनते रहें। (शतम्) सौ (शरद) सर्दियों तक (प्र ब्रवाम) प्रवचन-उपदेश आदि करते रहें। (शतम्) सौ (शरद) सर्दियों तक, (च) और (शतात्) सौ (शरद) सर्दियों से भी (भूय) अधिक [वर्षों तक] (अदीना) अपरतन्त्र [-स्वतन्त्र=स्वाधीन] (स्याम) रहें।

२१ टिप्पणियाँ—चक्षु—चक्षुष से नपुंसक लिंग प्रथमा एकवचन का रूप है। देवहितम्—देवेभ्य हितम्। देवताओं के लिए हितकारी कल्याण करने वाला। एक अन्य मन्त्र में सूर्य को अग्नि मित्र और वरुण की आंख कहा है। दर्शन और विश्वास का एक मात्र कारण होने से आंख सब की हितसाधक है। हित—√धा + क्त स्थापित किया हुआ, रक्खा हुआ। अत लक्षणा से कल्याणकारी अर्थ हुआ। पुरस्तात्—पुरस् + तातिल्। पूर्व दिशा। यह पद सदा अव्यय रहता है। शुक्रम्—सफेद शुभ्र स्वच्छ। यह √शुच से निष्पन्न हुआ है। दयानन्द सरस्वती ने इस का अर्थ शीघ्रकर किया है। अत शीघ्रकारी अर्थात् तीव्र-दूरदर्शक भाव भी लिया जा सकता है। उच्चरत्-उद + √चर् + लङ् प्रथम पुरुष एक वचन का अडागम हीन रूप। ऊपर निकल आया है। यहां यह भूतकाल तत्काल अभी का द्योतक है। पश्येम, जीवेम शृणुयाम ब्रवाम स्याम—ये क्रमशः √दृश् √जीव, √श्रु √ब्रू और √अस से विधिलिङ उत्तम पुरुष बहुवचन के रूप हैं। शरद शतम्—मानव की आयु सौ वर्ष की मानी

गई है—'शतायुर्वै मानवः'। अत यहां भी सौ वर्ष जीने आदि की कामना की गई है। देखना जीना उठना बढ़ना और होना—सब एक दूसरे के पूरक हैं और 'जीना' क्रिया के भाव को सुपुष्ट करते हैं। विद्वानों ने निश्चय निकाला है कि प्राचीन काल में जिस ऋतु से वर्ष प्रारम्भ होता था उसी ऋतु का नाम वर्ष का पर्याय बन जाता था। यहां पर 'शरद' का प्रयोग उसी 'तर्क' के अनुसार हुआ है। इसी प्रकार प्रावृष के नाम पर 'समा' का प्रयोग होता है। कुछ विद्वान् इन प्रयोगों से ज्योतिष की गणना द्वारा ऋग्वेद की रचना के काल का अनुमान भी लगाते हैं। अदीनाः—दीन और परतन्त्र को स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता है। अतः स्वतन्त्र रहने की प्रार्थना की गई है। भूयश्च—जीवन जितना लम्बा होगा, मनुष्य उतना ही अधिक लोक के सुखों का उपभोग करता हुआ आगामी जीवन के लिए पुण्यों का सञ्चय कर लेगा। इस प्रार्थना से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय सौ वर्ष से भी अधिक आयु वाले जन होते थे। **शतम्, शतात्**—शत शब्द सदैव नपुंसकलिंग एक वचन में प्रयुक्त होता है।

.२.

चरैवेति

भूमिका

ब्राह्मण

१, वैदिक साहित्य म वेदो और उन की शाखा सहिताओं के बाद ब्राह्मण साहित्य का स्थान है । एक परम्परा इन्हें भ श्रुति और ईश्वरीय ज्ञान मानती है, परन्तु दूसरी परम्परा इन वेदव्याख्यान मात्र मानती है और वेद के अनुकूल भाव आदि होने पर ही इन्हे प्रामाणिक मानती है । यह कहना अनुचित नहीं वि मूल की तुलना म जितनी प्रामाणिकता एक उद्धरणो सहित कुंज प्रश्नोत्तर और सरल अध्ययनो की होती है उतनी ही वेद सहिताओ की तुलना म ब्राह्मणो की है। ब्राह्मण शब्द की ब्रह्मन् से अण प्रत्यय लगा कर 'ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानम्' अर्थ म व्याख्या की गई है ।

ब्राह्मणों का काल

२ ब्राह्मणो की रचना का काल वेदसहिताओ के सकलन के बाद माना जाता है । मैक्स मूलर ने इन्हे ६०० से ८०० ई० पू० मे रक्खा । ज्योतिष के आधार पर शतपथ ब्राह्मण का काल ३००० ई० पू० के लगभग बैठता है। यह भी निर्विवाद है कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे वर्णित यज्ञ आदि सहिताकाल म प्रचलित थे। उसी परम्परा को यहा लेखबद्ध प्रामाणिक और ससक्त रूप दिया गया है। यह विकास दीर्घकालीन रहा होगा। सम्भव है कि उपलब्ध ब्राह्मणो से पहले छोटे-बडे कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थ रहे हो जिन के आधार पर ये उपलब्ध ब्राह्मण रचे गये । कुछ भी हो,

इन की रचना चाहे जब और चाहे जिस आधार पर की गई हो, इन की मूल सामग्री का सीधा संहिताकाल से सम्बन्ध है।

ब्राह्मणों की संख्या और नाम

३ प्रत्येक वेद के अपने अपने एक वा अधिक ब्राह्मण है। ऋग्वेद के ऐतरेय कौषीतकि और शाखायन ब्राह्मण यजुर्वेद के शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण (=पंचविंश ब्राह्मण), मन्त्र, आर्षेय, सामविधान, संहितोपनिषद् दैवत, षड्विंश, वंश जैमिनीय और जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिलते हैं। इन में तैत्तिरीय और जैमिनीय इन नामों की शाखाओं के ब्राह्मण है। जैमिनीयोपनिषद् जैमिनीय ब्राह्मण का ही अंग है। इसी प्रकार मन्त्र ब्राह्मण आदि भी किसी समय पंचविंश ब्राह्मण के अंग रहे हो सकते हैं।

ब्राह्मणों के विषय

४ ब्राह्मणों में अपनी अपनी संहिताओं और शाखाओं से सम्बन्धित क्रियाकलाप का संकलन उन की प्रामाणिकता का प्रवचन और उन के मूल भाव या प्रतीक आदि का कथन मिलते हैं। इन में वर्णित क्रियाएं बड़ी जटिल हैं और विशेषज्ञ के बिना कार्यान्वित नहीं की जा सकती। कुछ का तो संभार भी सामान्य मनुष्य जुटाने में असमर्थ रहेगा। कुछ नितान्त अव्यवहार्य और प्रतीकमात्र ही मालूम पड़ते हैं। शेष में भी कुछ क्रियाएं अप्रयोज्य प्रतीत होती हैं। प्रतीक की दृष्टि से ये सब शिष्ट और ग्राह्य हो जाते हैं।

ब्राह्मणों के आख्यान

५ ब्राह्मणों में स्थल-स्थल पर बहुत से सरल, संक्षिप्त और रोचक आख्यान भी मिलते हैं। इन से ही आगे चल कर

कहानी-कथा आदि का विकास हुआ है। इन आख्यानों की भाषा सरल सुबोध और ललित है। सामान्यत ब्राह्मणों की भाषा अपरिपक्व, अविकसित, भद्दी, अस्पष्ट और अपूर्ण है, परन्तु आख्यानों की भाषा मे ये दोष नही है। यहा वाक्य भी छोटे छोटे है। उन की भाषा पीछे की लौकिक सस्कृत मे विकासोन्मुख है।

ऐतरेय ब्राह्मण

६ ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण महीदास ऐतरेय की रचना है। काल की दृष्टि से यह वैदिक सस्कृति के ह्रास के युग का प्रतीत होता है और कम-से-कम शतपथ ब्राह्मण से अर्वाचीन मालूम होता है। तथापि आधुनिक विद्वान् इसे शतपथ ब्राह्मण से पहले की रचना मानते है

शुन.शेप आख्यान

७ इस ऐतरेय ब्राह्मण म राजसूययज्ञ के प्रसग मे पुत्र की आवश्यकता और परिश्रम के फल का प्रतिपादक एक बहुत सुन्दर आख्यान मिलता है। इसे शु शेप आख्यान कहते है। स्मरण रहे जिस प्रकार स्वप्न म मानव के अनुभव म आई हुई वस्तुओ और घटनाओ से एक सम्बद्ध सा रूप दिखाई पडता है इसी प्रकार कवि अपने चारो ओर के वातावरण से सामग्री ले कर कल्पना मिश्रित कथा की किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सृष्टि करता है। ये कथाए वैदिक साहित्य म आख्यान या इतिहास कहलाती है। अत आख्यानगत वर्णनो को यथार्थ मानना व्यामोह और अज्ञान है।

शुनःशेप आख्यान की कथा

८ शुन शेप के इस आख्यान की सक्षेप से कथा इस प्रकार है —

९ इक्ष्वाकु कुल म वेधस के पुत्र हरिश्चन्द्र नामक एक राजा हुए हैं। उम को सौ रानिया थी, परन्तु उस के न कोई पुत्र था न और कोइ सन्तान। एक बार उन का नारद ऋषि से पुत्र-प्राप्ति की अनिवार्यता के विषय म वार्तालाप हुआ। नारद ने बताया कि अपने जीवनकाल म पुत्र का मुख देखने मे पिता पितृ ऋण मे मुक्त हो जाता है। पृथिवी अग्नि और जल मे मिलने वाले भोगो से बढ कर पुत्र का सुख है। वह पिता की आत्मा और ससार तथा दु ख से पार उतारने वाला होता है। पुत्रहीन के लिय चारो आश्रमो का जीवन निरर्थक है। पुत्र दोनो लोको म ज्योति है। पुत्रहीन का लोक नष्ट हो जाता है। सब उसे पशु समझते है। पुत्रवाले ही शोकरहित हो कर छाती तान कर नि शक और सानन्द इस जगत् म घूमते है। यह सुन कर हरिश्चन्द्र न नारद से पूछा कि उसे पुत्र कैसे मिले।

१० नारद ने कहा कि वरुण देवता से प्रार्थना करो और कहो कि जो पुत्र तुम्हे पैदा होगा उस को तुम राजा वरुण की भेंट चढा दोगे। हरिश्चन्द्र ने उस के परामर्श के अनुसार किया। वरुण ने उस की प्राथना पर उसे एक पुत्र दिया और उस की बलि मागी। परन्तु हरिश्चन्द्र यदि ऐसा कर देते, तो उन को क्या लाभ होता। अत उन्हो ने वरुण को टलाया कि अभी तो यह दस दिन का भी नही हुआ। दस दिन का हो जाने पर मैं इस को तुम्हारी भेंट चढा दूगा। वरुण मान गया और रोहित नामक इस बालक के दस दिन का हो जाने पर फिर बलि की माग की। हरिश्चन्द्र ने फिर टलाया कि दान्त निकलने पर यज्ञ करूगा। वरुण मान कर फिर अपने स्वीकृत समय पर आया। अब हरिश्चन्द्र ने फिर युक्ति निकाल कर कहा कि अभी इस के दूध के दान्त गिर कर पक्के दान्त निकल आने दो। वरुण उस की बात

मान कर दी हुई अवधि पर फिर आया। हरिश्चन्द्र ने उसे रोहित के शस्त्रधारी होने तक के लिए फिर टला दिया। जब रोहित शस्त्रधारी हो गया, तब वरुण ने फिर माग की। अब हरिश्चन्द्र आगे न टला सके और रोहित की भेंट देने के लिए राजी हो गए। उन्होंने रोहित को बुला कर सब बात बता कर कहा कि उसे वरुण की भेंट चढाया जायगा। रोहित सहमत न हुआ और जगल में भाग गया।

चरैवेति

११ यहा से इस सकलन में सगृहीत अश–चरैवेति की कथा चालू होती है।

१२ रोहित के भाग जाने पर वरुण ने हरिश्चन्द्र को पकड लिया। हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया और उस का पेट फूल गया। पिता के रोग की वार्ता सुन कर रोहित घर आने के लिए जगल से बस्ती में आया। वहा पुरुष के वेष में इन्द्र ने मिल कर कहा कि परिश्रमशील को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है इस लिए परिश्रम करो और घूमो—गतिशील बनो। घर में बैठना बेकार है। रोहित एक वर्ष फिर भ्रमण करता रहा और पुन घर की ओर चला। इन्द्र ने फिर उपदेश दिया कि विचरणशील का सब प्रकार के फल मिलते हैं और उस के दुःख दूर हो जाते हैं और रोहित को फिर एक वर्ष के लिए जगल में भ्रमणशील बना दिया। इसी प्रकार तीसरे चौथे और पाचवें वर्षों में इन्द्र ने रोहित को अपने घर जाने से रोका और कहा कि विचरणशील का ही ऐश्वर्य वृद्धिशील रहता है। घूमने वाला ही सतयुग और जूए की कृत फेंक के समान पूर्ण हो पाता है और स्वादु फल को प्राप्त करता है।

१३ छठे वर्ष मे उस की भेट भूख से सतप्त सौयवसि अजीगर्त ऋषि से हुई। इस के तीन पुत्र थे–शुन पुच्छ, शुन शेप और शुनोलाङ्गूल। रोहित ने अपने बदले बलि देने के लिए उन मे से एक पुत्र को मागा। पिता और माता ने क्रमश ज्येष्ठ और कनिष्ठ को देने से इ कार कर दिया और सौ (सुवर्ण मुद्राओ या गौओ) के बदले मध्यम पुत्र शुन शेप को बेच दिया।

१४ रोहित इस शुन शेप को ले कर पिता के पास आया। दोनो ने वरुण से रोहित के बदले म शुन शेप की भेट स्वीकार करने की प्रार्थना की। वरुण सहर्ष राजी हो गए, क्यो कि क्षत्रिय बालक से ब्राह्मण बालक अधिक गुणवान् या श्रेष्ठ होता है। वरुण के निर्देश पर शुन शेप को राजसूय म बलि देने के लिए बाधा गया।

शुन.शेप की कथा का उपसहार

१५ प्रस्तुत सकलन की कथा यहा समाप्त हो जाती है। आगे की कथा इस प्रकार है।

१६ जब शुन शेप को बलि क लिए लाया गया तो उसे बलि के यूप मे बाधने और उस के बाद मारने के लिए कोई आदमी नही मिला। यहा भी शुन शेप का पिता सौ–सौ [सुवर्ण मुद्राओ या गौओ] के बदले इन दोनो कामो को करने के लिए तय्यार हो गया।

१७ शुन शेप इस नृशस और बीभत्स कर्म की तय्यारी को देख कर काप उठा और देवताओ की शरण म गया। उस ने क्रम से प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण अग्नि, विश्वे देवो इन्द्र, अश्विनो और उषस् की स्तुति की। उषस् की स्तुति म उस ने

तीन मन्त्र पढे और उन से उस के एक-एक कर के तीनो बन्धन अपने आप खुल गए।

१८ ऐसा होने पर ऋत्विजो ने शुनःशेप को अपना भागी बना लिया और उस ने अपने पिता की प्रार्थना को ठुकरा कर विश्वामित्र को अपना पिता मान लिया।

चरैवेति

१. अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह। तस्य होदरं जज्ञे। तदु ह रोहितः शुश्राव। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—अब वरुण ने इक्ष्वाकुसन्तान [हरिश्चद्र] को पकड लिया। उस [हरिश्चन्द्र] को जलोदर [रोग] पैदा हो गया। रोहित ने इस [घटना] को सुना। वह जगल से बस्ती [की ओर] आया।

टिप्पणियां—अथ—यह प्रारम्भ और घटनाओ मे एक के बाद आने वाली दूसरी घटना के काल का सूचक अव्यय है। इस पद को शुभ और मागलिक भी माना गया है। ह—यह वाक्य मे शोभा आदि लाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह अव्यय है। सामान्यत हिन्दी मे इस का कोई अनुवाद नही किया जाता है। कभी-कभी 'निश्चय मे' अर्थ कर भी देते हैं। वरुण—ये ऋग्वेद मे ऋत—नियम और व्यवस्था के देवता है। इन के तीन पाश हैं, जिन मे वे अपराधियो को बाधते है। ये पाश उत्तम मध्यम और अधम कहलाते हैं। इन के दण्ड मे सब डरते हैं। इन का जल से भी सम्बन्ध जोडा गया है। पुराणो मे तो ये समुद्र के देवता हैं। अत इन के द्वारा बान्धा हुआ पुरुष जलोदर जैसे रोगो से पीडित होता है। ये नैतिक अपराधो के दण्डदाता हैं। इस आख्यान मे वरुण को शरीरधारी और मानवीय भावो से युक्त सरल, विश्वासी

और दूसरे को सुविधा का ध्यान रखने वाला चित्रित किया गया है। जग्राह—√ग्रह्+लिट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन। उदरम्—पेट—पेट का बढ़ना–जलोदर रोग। जज्ञे—√जन्+लिट प्रथम पुरुष एक वचन, आत्मने पद। पैदा हुआ–हो गया। तत्—इस अर्थात् पिता के जलोदर से पीड़ित होने को। उ—यह भी ह के समान पूरक पद है। शुश्राव—√श्रु+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। एयाय—आ+√इ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

२ तमिन्द्र. पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—
"नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥
चरैवेति।" इति।

अर्थ—पुरुष के रूप मे पास जा कर इन्द्र ने [उस रोहित से] कहा- 'हे रोहित—हम ने सुना है कि जो घूमता-फिरता नहीं है उस को लक्ष्मी नहीं मिलती है। मनुष्यों (=अपने सम्बन्धियों) के बीच रहने वाला जन पापी होता है। नि सन्देह इन्द्र गतिशील का मित्र होता है। अत भ्रमण करो ही।'

टिप्पणियां—इन्द्र—यह ऋग्वेद का सवप्रमुख और आर्यों का युद्ध और राष्ट्र का देवता है। ऋग्वेद का अधिकाश भाग इसी की स्तुति म हैं। इस के प्रमुख कम वृत्र के साथ युद्ध करना और सोमपान करना ह। पौराणिक सम्प्रदाय म यह देवो का राजा और स्वग का शासक है। इस का दूसरा प्रधान गुण सम्पत्ति का स्वामित्व है। पुराणो का इन्द्र षड्यन्त्रकारी है। अत यहा भी रोहित को बहकाने म समथ होता है। पर्येत्य—परि+आ+√इ+ल्यप्। उवाच—√ब्रू+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। अनाश्रान्ताय—न थका हुआ जो विश्रामी जीव

नहीं है, नमठ है। शुश्रुम—√श्रु+लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन। पाप—पापमस्यास्ति। पाप+अच। नृषद्—नृपु सीदति। मनुष्यों म रहता है। चरत—√चर+शतृ, पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन। चरैव—चर+एव। चर्—√चर्+लोट मध्यम पुरुष एक वचन।

३. '"चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह द्वितीय मसत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ—'नि सन्देह 'विचरण करो' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है,' यह [सोच कर रोहित] दूसरे वर्ष [भी] जगल में घूमता रहा। वह जगल से बस्ती की ओर आया।

टिप्पणियां—अवोचत्—√ब्रू मे लुङ प्रथम पुरुष एक वचन। वै—यह 'निश्चय', 'नि सन्देह' वाचक अव्यय है। मा—अस्मद से द्वितीया एक वचन का आदेश रूप है। यह वाक्य के प्रारम्भ म प्रयुक्त नही होता है। चचार—√चर+लिट प्रथम पुरुष एकवचन।

४. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—
"पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतास्चरैवेति॥"
इति।

अर्थ—पुरुष रूप मे पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा—"विचरण करने वाले की दोनो जघाए फूलों से युक्त हो जाती हैं। [उस की] आत्मा ऐश्वर्यशाली और फल को प्राप्त करने वाली हो जाती है। उस के सब पाप [लम्बे] प्रशस्त मार्ग पर [भ्रमण की] थकान [या परिश्रम] से नष्ट हुए सो जाते हैं। इस लिए भ्रमण करते ही रहो।"

टिप्पणियां—पुष्पिण्यौ—स्त्रीलिंग पद-'जंघे' का विशेषण है। पुष्पाणि अस्या जातानि सन्ति वा सा पुष्पिणी, ते। फूलों से युक्त फूल आने पर ही फल आता है। मासिक धर्म से युक्त स्त्री को भी पुष्पवती कहते हैं क्या कि वह गर्भ धारण करने में समर्थ होती है। अतः यहां जंघाएं परिश्रम के फल प्राप्त करने वाली हो जाती हैं और घूमने वाला सफलता प्राप्त करता है। अतः यदि तुम परिश्रम करोगे तो तुम्हारे मन की इच्छा—वरुण देवता को बलि दिये जाने से मोक्ष—की सिद्धि हो जायगी और तुम्हारा पिता भी ठीक हो जायगा। अतः परिश्रम करो, घूमो, अभी घर मत जाओ।' इन्द्र के समस्त वचनों का यही अंतिम और एक मात्र लक्ष्य और भाव है। चरत —√चर्+शतृ+षष्ठी एक वचन पुल्लिंग। घूमने—परिश्रम करने वाला। भूष्णु — √भू+स्नु। होने वाला धन कमाने—प्राप्त करने वाला अतः ऐश्वर्यशाली, समृद्ध। फलग्रहि —फलं गृह्णाति इति। फल+√ग्रह्+कि। फल प्राप्त कर लेने वाला सफल। शेरे—√शी से लट् प्रथम पुरुष बहुवचन का वैदिक रूप। लौकिक रूप शेरते होता है। पाप्मान —पाप्मन् से प्रथमा बहुवचन, पुल्लिंग। पाप, कष्ट, दुःख। वैदिक दर्शन में दुःख निर्धनता, रोग आदि को पाप माना गया है। देखो हमारा 'वैदिक दर्शन' नामक लेख। प्रपथे—प्रकृष्ट पथा, तस्मिन्। प्र+पथिन्+अ। हता — √हन्+क्त+पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन।

५. "'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह तृतीयं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ— 'निःसन्देह भ्रमण करो' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है,' यह [सोच कर रोहित] तीसरे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। वह जंगल से बस्ती की ओर आया।

६. तमिन्द्र. पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

"आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति ॥" इति ।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा —"बैठे हुए का ऐश्वर्य [या-सौभाग्य] बैठा रहता है, खड़े हुए का ऊपर [सीधा]खड़ा रहता है, लेटे हुए [या सोए हुए या पड़े हुए] का सोता है और भ्रमण करने वाले का ऐश्वर्य [या सौभाग्य अवश्य ही गति करता रहता है [अर्थात्-विकसित होता-बढ़ता रहता है] इस लिए घूमते ही रहो ।'

टिप्पणियां—आस्ते—√आस् बैठना में लट् प्रथम पुरुष एक वचन । भग —√भज्+घ । ऐश्वर्य, सौभाग्य । वेद में यह ऐश्वर्य का देवता है । सविता आदि के साथ इस से भी धन देने की प्रार्थनाएं की गई हैं । प्रातःकालीन प्रार्थना में अग्नि इन्द्र आदि देवताओं से भग— ऐश्वर्य देने की प्रार्थना की गई है । देखो यजुर्वेद ३४।३४-४० । आसीन—√आस्+शानच् । तिष्ठतः —√स्था+शतृ+पुंल्लिंग षष्ठी एक वचन । शेते—√शी+लट् प्रथम पुरुष एक वचन । निपद्यमानस्य—नि+√पद+(दिवादिगणीय य)+शानच्+षष्ठी एक वचन पुंल्लिंग । गतिहीन, पड़ा हुआ सोया हुआ । चराति— √चर्+लेट् प्रथम पुरुष एक वचन । वेद में एक लट् लकार भी होता है, जो लोक में नहीं मिलता है । सामान्यतः यह लेट् विधिलिङ् के अर्थों में प्रयुक्त होता है । यहां पर 'संभावना आशा और अवश्यंभाविता के भाव अभिप्रेत हैं ।

७. "'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार । सोऽरण्याद् ग्राममेयाय ।

अर्थ— 'नि सन्देह 'भ्रमण करते ही रहो' यह ब्राह्मण ने मुझे कहा है" यह [सोच कर रोहित] चौथे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। वह जंगल से बस्ती की ओर आया।

८ तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—

"कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः,

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति ॥" इति।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा— 'सोता हुआ [पुरुष] कलि [के समान] होता है, जागता हुआ [शब्दार्थ—नींद को त्यागता हुआ] द्वापर [के समान होता है], [बिस्तर से] उठता हुआ त्रेता [के समान] होता है और गति करता हुआ कृत [के समान] हो जाता है। इस लिए अवश्य ही भ्रमण करते रहो।"

टिप्पणियां—कलि, द्वापर, त्रेता, कृतम्—मनु ने मनुस्मृति में भी यही भाव प्रकट किया है—

"कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥" [९।३०२]

सायण ने मनु के भाव के अनुकूल कलि आदि पदों को चारों युगों का द्योतक माना है। भाव यह है कि जिस प्रकार कलियुग आदि में धर्म की स्थिति होती है, उसी प्रकार सोते हुए आदि मनुष्यों के भाग्य की होती है। सत्ययुग (—कृतयुग) में ही धर्म अपने पूर्ण उत्कर्ष पर होता है अतः परिश्रमशील का भाग्य भी चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है। कुछ विद्वान् इन कलि आदि को जूए में इन नामों वाली पासों की फेंकों का द्योतक मानते हैं। भाव दोनों में समान है। शयान—√शी+शानच्। संजिहान—सम्+√हा (जाना)+शानच्। उत्तिष्ठन्—उत्+√स्था+

शतृ+पुल्लिंग प्रथमा एक वचन। सपद्यते—सम्+√पद+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। चरन्—√चर्+शतृ+पुल्लिंग प्रथमा एक वचन।

९ "'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह पचम सवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

अर्थ— निःसन्देह 'भ्रमण करते ही रहो' यह ब्राह्मण ने मुझे कहा है", यह [सोच कर रोहित] पाचवें वर्ष [भी] जगल में घूमता रहा। वह जगल से बस्ती की ओर आया।

१०. तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच—
"चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।"
इति।

अर्थ—पुरुष रूप में पास जा कर इन्द्र ने उस [रोहित] को कहा— गति करता हुआ [पुरुष] निश्चय ही शहद [के सदृश मीठे और] उदुम्बर [=गूलर के सदृश] स्वादिष्ट [फल] को प्राप्त करता है। सूर्य के परिश्रम [कीथ-प्रमुखता-वैशिष्ट्य, गगा प्रसाद-सौंदर्य, सायण-श्रेष्ठता] को देखो जो गति करता हुआ [कभी भी] आलस्य नहीं करता है। अत घूमते ही रहो।

टिप्पणियां—मधु और उदुम्बरम् में उपमा अभिप्रेत है। इसे तादात्म्यजन्य अतिशयोक्ति का रूप भी माना जा सकता है। उदुम्बर— गूलर, इंजीर। श्रेमाणम्—भाष्यकारों और अनुवादकों ने इस लक्ष्मी के वाचक श्री से मान कर अर्थ किए हैं। परन्तु श्रम का प्रकरण होने से इसे श्रम के अर्थ में लेना और √श्रम् से व्युत्पन्न करना ही ऐतरेयकार को अभीष्ट है। √श्री (उबालना, पकाना) से व्युत्पन्न

करने पर यह भाव प्राप्त किया जा सकता है। तन्द्रयते—तन्द्रा करोति। तन्द्रा से नामधातु, लट् प्रथम पुरुष एक वचन।

११. " 'चरैवेति' वै मा ब्राह्मणोऽवोचद्" इति ह षष्ठ संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिम-शनया परीतमरण्य उपेयाय, इति।

अर्थ—"निःसन्देह 'घूमते ही रहो' यह ब्राह्मण ने मुझ से कहा है", यह [सोच कर रोहित] छठे वर्ष [भी] जंगल में घूमता रहा। [वहां] जंगल में उस [रोहित] ने भूख से सताए हुए सुयवस के पुत्र अजीगर्त [नामक] ऋषि को पाया।

टिप्पणियां—सौयवसि-सुयवसस्य अपत्यं पुमान् सुयवस+इञ्। अशनया—अशना (-भूख) तृतीया एक वचन, स्त्रीलिंग। परीत—परि+√इ+क्त। उपेयाय—उप+√इ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

१२. तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः—शुनःपुच्छः, शुनःशेपः, शुनोलाङ्गूल इति।

अर्थ—उस के तीन पुत्र थे, [जिन के नाम] शुनःपुच्छ शुनःशेप और शुनोलाङ्गूल [थे]।

टिप्पणियां—आसुः—√अस्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन। लोक में लिट् आदि आर्धधातुक लकारों में √अस् को √भू हो जाता है, केवल कारयामास आदि रूपों में ही √अस् रहता है परन्तु यहां √भू न हो कर √अस् हो रहा है। शुनःपुच्छ आदि—ये नाम इसी प्रकार के मालूम पड़ते हैं जैसे आज-कल चूहामल, मूसा, चोवा, तोताराम,

छिपकली मल, बरफी, इमरती, जलेबी, चौथमल आदि नाम रक्खे जाते हैं। शुन श्वन् (कुत्ता) से षष्ठी एक वचन का रूप है। पुच्छ और लाङ्गूल दोनों पूछ के और शेप प्रजनन इन्द्रिय' का वाचक हैं। वद म शुन 'मुख का भी वाचक है, और शेप 'स्पर्श' का। अत इन नामो को इस शुन —मुख से भी सम्बद्ध किया जा सकता है। हरियप्पा ने ऐसा ही माना है। दयानन्द सरस्वती का भी यही मत है। ये मत इस लिये माननीय प्रतीत होते हैं कि वैदिक ऋषियो और राजाओ आदि के नामो मे कुत्सित नामो की सत्ता विरली ही मिलगी।

१३. त होवाच—"ऋषेऽह ते शत ददामि। अह-मेषामेकेनात्मान निष्क्रीणा" इति।

अर्थ—[रोहित ने] उस [अजीगर्त] से कहा—'हे ऋषि मैं तुम्हें सौ [सुवर्ण मुद्राए या गौए] देता हूँ। मैं इन [तुम्हारे पुत्रों] मे से एक [पुत्र को यज्ञ में दे कर] अपने आप को ऋण मुक्त कराना चाहता हूँ।

टिप्पणिया—शतम्—ये सौ क्या हैं ? यह नहीं लिखा गया है। उस काल म सुवर्ण मुद्राओ और गौओ से क्रय-विक्रय व्यवहार चलता था। रोहित जगल मे घूम रहा है। उस के पास मुद्रा तो हो सकती ह, गौए होना सम्भव नही जान पडता। निष्क्रीणै—निस+√क्री लोट् उत्तम पुरुष एक वचन। मूल्य दे कर—ऋण का धन दे कर अपने को मोल लेना-छुडाना-बचाना चाहता हूँ। सन्धि म ए को आय् और आय् के य् का लाप हो गया है।

१४ स ज्येष्ठ पुत्र निगृह्णान उवाच—"न न्विमम्" इति।

अर्थ—वह सब से बड़े पुत्र को पकड़ता हुआ बोला—'निश्चय ही इस को [तो नहीं दूंगा, और किसी को ले सकते हो]।"

टिप्पणियां—ज्येष्ठ—वृद्ध + इष्ठन्। निगृह्णान—नि + √ग्रह + शानच्।

१५. "नो एवेमम्" इति कनिष्ठं माता।

अर्थ—माता ने सब से छोटे [पुत्र को पकड़ते हुए कहा कि] 'न ही इस को [दूंगी]।"

टिप्पणी—कनिष्ठ—युवन् + इष्ठन्।

१६. तौ ह मध्यमे सम्पादयाञ्चक्रतुः शुनःशेपे।

अर्थ—उन दोनों ने बीच के [पुत्र] शुनःशेप पर [मूल्य के फल को] सक्रान्त किया [अर्थात धन ले कर बेचना-देना स्वीकार कर लिया]।

टिप्पणी—सम्पादयाञ्चक्रतु — सम् + √पद + णिच् + लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन। णिजन्त धातुओं के अन्त में आम् लगा कर √कृ, √भू और √अस् के लिट् लकार के रूपों का प्रयोग किया जाता है। अत यहां √कृ का लिट् मध्यम पुरुष द्विवचन का रूप लगाया गया है।

१७ तस्य ह शतं दत्त्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय, इति।

अर्थ—वह [रोहित] उस [अजीगर्त] को सौ [मुद्रा] दे कर उस [शुनःशेप को ले कर वह [रोहित] जगल से बस्ती में आया।

टिप्पणी—दत्त्वा-√दा + क्त्वा। आदाय-आ+√दा + ल्यप्।

१८. स पितरमेत्योवाच—"तत हन्ताहमनेनात्मानं निष्क्रीणा" इति ।

अर्थ—वह [रोहित अपने] पिता [हरिश्चन्द्र ऐक्ष्वाक] के पास आ कर बोला—"पिताजी, अहो, मैं इस [शुन शेप के दान] से अपने आप को [वरुण से उस का] देय चुका कर छुडाऊंगा।"

टिप्पणी—एत्य—आ+√इ+ल्यप। तत—प्रिय जनो के लिए सम्बोधन पद है। इसी से बीच म 'आ' लग कर लौकिक साहित्य का "तात' पद बना है। हन्त—हर्ष और शोक का सूचक अव्यय है। यहा यह हर्ष को व्यक्त करता है, क्या कि अब पिता और पुत्र दोनो सानन्द और सुरक्षित रह सकेंगे।

१९. स वरुणं राजानमुपससार—"अनेन त्वा यजा" इति।

अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] राजा वरुण के पास गया [और कहा] कि [मैं] इस [शुन शेप] से तुम्हारे लिए यज्ञ करना चाहता हूँ।"

टिप्पणियां—राजानम्—वरुण को वेदा म बहुश राजा कहा है, क्यो कि वह सृष्टि मे नैतिक व्यवस्था का धारक है। उपससार—उप+√सृ+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। त्वा—युष्मद से द्वितीया एक वचन मे आदेश रूप है। यजै—√यज्+लोट उत्तम पुरुष एक वचन आत्मनेपद।

२० "तथेति। भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियाद्" इति वरुण उवाच।

अर्थ—वरुण ने कहा कि "बहुत अच्छा। ब्राह्मण नि सन्देह क्षत्रिय से अधिक अच्छा [या फलदायक] होता है।"

टिप्पणिया—भूयान्—बहु+ईयस+पुल्लिङ्ग प्रथमा एक वचन।

२१. तस्मा एत राजसूय यज्ञक्रतु प्रोवाच। तमेतमभि-षेचनीये पुरुष पशुम् आलेभे ॥ इति ॥

अर्थ—[उस वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र को] इस राज-सूय नामक यज्ञ कर्म को [करने और उस में शुन शेप की बलि देने के लिये] निर्देश दिया। [उस] अभिषेक [यज्ञ] में उस पुरुष [शुन शेप] को पशु [रूप] मे उपस्थित किया।

टिप्पणिया—तस्मा—तस्मै का सधि म यह रूप हो गया है। राजसूय—राजा के राजतिलक किये जाने के समय की यज्ञक्रिया। इस म तीर्थस्थानों से जल ला कर राजा को स्नान कराया जाता है। यज्ञक्रतुम्—यज्ञ और क्रतु सामान्यत पर्यायवाची हैं। यहा इन्हें अगी और अग के रूप मे या विशेष्य–विशेषण रूप मे लिया गया है। अभिषेचनीय—अभि+√सिच्+णिच्+अनीय। यह राजसूय के लिये प्रयुक्त हुआ है। आलेभे—आ+√लभ्+ लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। आ+√लभ् का प्रयोग पशु की हिंसा के लिये भी होता है। यहा अभी न हिंसा की गई है और न आगे जा कर की जानी है। अत धारण किया प्राप्त किया तय्यार किया मात्र अभिप्रेत हैं।'

[ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३]

.३.

शतपथब्राह्मणे

मत्स्यावतारेतिहासः

शतपथ ब्राह्मण मे (आई)

मछली के अवतार की कथा

शतपथ ब्राह्मण

१ शतपथब्राह्मण यजुर्वेद का व्याख्यान ग्रन्थ है। विद्वानो ने इसे वैदिक काल के अन्त का ग्रन्थ माना है। परन्तु इस की सामग्री पर्याप्त प्राचीन है और वैदिक काव्यकाल की समकालीन है। इस की भाषाशैली अन्य ब्राह्मणो की भाषाशैली के समान अपूर्ण, अपरिष्कृत, अनतिपरिस्फुट आवत्तिपूर्ण निरथक शब्दो से युक्त और भावमयी है। इस मे वैदिक प्रयोगो की बहुलता है। प्रकृत कथा मे लेट् के रूपो, लिट् के प्रयोगो और लिङ्ग आदि के व्यत्यय की छटा देखने योग्य है।

शतपथब्राह्मण के विषय

२ इस ब्राह्मण मे १४ काण्ड हैं। इन म से पहले नौ म यजुर्वेद के पहले अठारह अध्यायो का अविकल व्याख्यान है। दसवे और ग्यारहवे काण्डो मे अग्निरहस्य, बारहवे म प्रायश्चित्त तेरहवे मे अश्वमेध और नरमेध और चौदहवे म आरण्यक और उपनिषद् है। इस ब्राह्मण मे वेदार्थ के लिये महान् सामग्री भरी पडी है। वेदार्थ और वैदिक सस्कृति और धर्म के ज्ञान के लिए इतनी उपयोगी पुस्तक शायद ही अन्य कोई हो।

आख्यान

३ अन्य ब्राह्मणो के समान इस म भी अनेको रोचक आख्यान मिलते है। ये आख्यान सरल और ललित पदावली मे गुम्फित हुए है। ये आख्यान अनेकविध है।

मछली के अवतार की कथा

४ यह कथा शतपथब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवे अध्याय मे आई है। जलप्लावन की कथा प्राय ससार के सभी साहित्यो मे पाई जाती है। परन्तु शतपथब्राह्मण की कथा जितनी सरस, सरल, स्वाभाविक और मौलिक है उतनी अन्य किसी साहित्य म प्राप्त कथा नही है।

५ मत्स्यावतार की कथा बडी सरल और सक्षिप्त है। 'एक दिन मनु जी मुख धोने के लिये जल ले रहे थे कि उन के हाथ म एक मछली आ गई। मछली ने मनुजी से कहा कि 'मुझे पालो। मै आने वाले जलप्लावन से तुम्हारी रक्षा करूगी। पहले मुझे एक घडे म रखना। फिर एक खाई म। जब बहुत बडी हो जाऊ तो समुद्र म छोड देना। जब जलप्लावन हो तो एक नौका म चढ जाना'। मनु ने मछली को पाला। जब वह बडी हो गई तब उसे समुद्र मे छोड दिया। नियत समय पर जलप्लावन हुआ। मनु नौका मे चढ गए। मछली ने आ कर नौका को पानी मे तैरा दिया और उसे उत्तर में हिमालय पर्वत पर ले गई। वहा जा कर उस ने मनु को आदेश दिया कि वह नौका को वृक्ष से बाध दे और जैसे-जैसे पानी उतरने लगे मनु भी पर्वत से नीचे उतरे। मनु ने आज्ञा का पालन किया। जिस स्थान से मनु नीचे उतरे उसे अब भी 'मनोरवसर्पण' कहते हैं। इस जलप्लावन मे समस्त प्रजा बह गई थी। केवल मनु बचे थे।

इस आख्यान की कथा आगे भी चलती है, परन्तु उस मे कथानक का अश अत्यन्प है। इस अश के अनुसार अब मनु सतान की इच्छा करते हुए घूमने लगे। उन्हो ने पाकयज्ञ किया। जिस मे घी, दही आदि की जल में आहुति दी। उस से उन्हें एक पुत्री हुई जिस का नाम इडा था। इडा के निवेदन पर मनु ने उसे यज्ञ मे अपना साथी बना लिया। उस से मनु ने मानव जाति की सृष्टि की। यह इडा प्रयाजानुयाज का मध्य ही थी। यही इडा पात्रस्थ यज्ञ सामग्री थी। जो इस प्रकार रहस्य को जान लेता है, वह भी मनु के सदृश प्रजा की सृष्टि कर सकता है।

सानुवादो मत्स्यावतारेतिहासः

अनुवाद सहित मछली के अवतार की कथा

.१.

मनवे ह वै प्रातर् अवनेग्यम् उदकम् आजह्रुर्, यथेद पाणिभ्याम् अवनेजनायाहरन्त्येव तस्यावनेनिजानस्य मत्स्य पाणी आपेदे ॥१॥

अर्थ—[एक दिन] प्रात काल मनु के लिए [मुख आदि] धोने के लिए [सेवक] जल लाए। जैसे इस [जल] को हाथों से [मुख आदि] धोने के लिये लेते हैं, उसी प्रकार बार-बार मुख धोते हुए उस [मनु] के हाथो में [एक] मछली पहुच गई।

१ टिप्पणिया—ह और वै ये दोनो शब्द अव्यय हैं और 'निश्चय' के अर्थ मे वेद म प्रयुक्त होते हैं। वाक्य म इन का कोई विशेष अर्थ नही लगता है। अवनेग्यम्—अवनेज्यते प्रक्षाल्यते मुखहस्ताद्यनेन इति अवनेग्यम्। अव+√निज्+यत्। आजह्रु—आ+√हृ+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन। अवनेजनाय—(मुखादि) धोने के लिए। अव+√निज्+ल्युट्+चतुर्थी एक वचन नपुंसक लिंग। अवनेनिजानस्य—अव+√निज+यङ्+शानच्। षष्ठी एक वचन पुल्लिंग। बार-बार धोते हुए के। आपेदे—आ+√पद+लिट प्रथम पुरुष एक वचन आत्मनेपद। इस के लिट के रूप ये हैं—आपेदे आपेदाते आपेदिरे। आपेदिषे आपेदाथे आपेदिध्वे। आपेदे आपेदिवहे आपेदिमहे।

२

[मत्स्य] स हास्मै वाचमुवाद। "बिभृहि मा। पारयिष्यामि त्वेति।"

[मनु] "कस्मान्मा पारयिष्यसीति।"

[मत्स्य] "औघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा, ततस्त्वा पारयितास्मीति।"

[मनु] "कथं ते भृतिरिति ॥२॥

२ अर्थ—उस [मछली] ने उस [मनु] से वचन कहे [अर्थात्—कहा]। 'मुझे पालो। [मैं] तुम्हें पार उतारूंगी [या—बचाऊंगी]।'

[मनु ने मछली से पूछा]—'मुझे किस से पार उतारोगी [या-बचाओगी]।'

[मछली ने उत्तर दिया]—'जल का समूह इन सब प्रजाओं को बहायेगा। तुम्हें उस से पार उतारूंगी [या बचाऊंगी]।'

[मनु ने कहा—'अच्छा। परन्तु यह तो बताओ] कि तुम्हारा पालन-पोषण कैसे हो।'

२ उवाह—√वह्+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। बिभृहि—√भृ+लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। पारयिष्यामि—√पृ+णिच+लृट उत्तम पुरुष एक वचन। अथवा—√पाल्+लट उत्तम पुरुष एक वचन। त्वा—युष्मद शब्द का द्वितीया एक वचन। मा—अस्मद शब्द का द्वितीया एक वचन। औघ—जल का समूह। जलप्लावन। निर्वोढा—निर+√वह्+लुट लकार प्रथम पुरुष एक वचन। इस लकार में इस के रूप ये हैं—निर्वोढा निर्वोढारौ निर्वोढारः। निर्वोढासि निर्वोढास्थः निर्वोढास्थ। निर्वोढास्मि निर्वोढास्वः निर्वोढास्मः। पारयितास्मि—√पृ+णिच+लुट उत्तम पुरुष एक वचन। भृति—पालन। √भृ+क्तिन्+स्त्रीलिंग प्रथमा एक वचन।

३

[मत्स्य] स होवाच। "यावद् वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवति। उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति। कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि। स यदा ताम् अतिवर्धा अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि। स यदा तामतिवर्धा अथ मा समुद्रम् अभ्यवहरासि। तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मीति" ॥३॥

३ अर्थ—वह [मछली] बोली—'जब तक [हम] छोटे से [प्राणी] रहते हैं, तब तक निःसन्देह हमारा नाश करने वाले

[प्राणी] बहुत होते हैं। और [एक] मछली ही [दूसरी] मच्छली को निगल जाती है। मुझे घड़े मे [अपनी आखों के] सामने पालना। वह [मैं] जब उस [घड़े] से बढ जाऊ तब खाई खोद कर मुझे उस मे रखना [या-पालना]। जब [मैं] जब उस खाई से [भी] बड़ी हो जाऊँ तब मुझे समुद्र मे छोड़ देना। तब नि सन्देह [मैं] नाशक प्राणियों की पहुँच से बाहर हो जाऊँगी।'

३ टिप्पणियां—यावत्—जब तक अथवा—क्या कि। क्षुल्लका—छोटे मे। वह्वी—बहु पद से स्त्रीलिंग द्वितीया एक वचन। न—अस्मद का षष्ठी बहु वचन। नाष्ट्रा—नाशक नष्ट करने वाला मारने वाला। √नश+णिच्+त्र। उत—और। गिलति—√गॄ निगलना+लट प्रथम पुरुष एक वचन। कुम्भ्याम्—कुम्भी (घड़ा) सप्तमी एक वचन। बिभरासि—√भृ पालना धारण करना+लट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन। वैदिक साहित्य में विधिलिङ् के अर्थो में एक अन्य लकार का भी प्रयोग होता है जिसे लेट् लकार कहते हैं। इस कहानी में लेट के अनेक प्रयोग आए हैं। अतिवर्धै—अति+√वृध बढना (भ्वादि० आत्मनेपद)+लेट् उत्तम पुरुष एक वचन। कर्षूम्—खाई। द्वितीया एक वचन, स्त्रीलिंग। खात्वा—√खन् खोदना+क्त्वा। मा—अस्मद स द्वितीया एक वचन का वैकल्पिक रूप है। अभ्यवहरासि—अभि+अव+√हृ+लेट मध्यम पुरुष एक वचन छोड़ देना। अतिनाष्ट्र—अतीत नाष्ट्रान् इति अतिनाष्ट्र मारने वाले नाशक प्राणियों से परे। अर्थात उन की पहुँच से परे। भवितास्मि—√भू होना+लुट् लकार उत्तम पुरुष एक वचन। लुट् लकार आज से भिन्न (अनद्यतन) भविष्यत काल के लिये प्रयुक्त होता है।

४.

[अब मनु ने मछली को पालना आरम्भ कर दिया।]

४. शश्वद्ध झष आस। स हि ज्येष्ठं वर्धते।

[मत्स्यः] "अथेतिथीं समां तदोघ आगन्ता। तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै। स ओघ उत्थिते नावमापद्यासै, ततस्त्वा पारयितास्मीति" ॥४॥

४ अर्थ—वह [मछली] जल्दी ही बड़ा मच्छ हो गई क्यों कि वह [अर्थात्-मछली] बहुत तेजी से बढ़ती है।

[अब मछली ने मनु से कहा कि—]

"अब निश्चित अवधि वाले वर्ष मे यह जलसमूह आयेगा। तब एक नौका बना कर मेरा आश्रय लेना। वह [तुम] जलप्लावन के उमड़ने पर नौका मे बैठ जाना। तब मैं तुम्हें बचा दूंगी [या-पार उतार दूंगी।"]

४ टिप्पणियां—शश्वत्—शीघ्र ही। झष—मच्छ बड़ी मछली। हि-क्यों कि। ज्येष्ठम्—बहुत ही अधिक अर्थात् बहुत जल्दी। प्रशस्य (या) वृद्ध+इष्ठन्। इतिथीम्—इयतीनां दशानां द्वादशानां वा पूरणी तिथि इतिथी। जिस में इतनी पूरक तिथियां हों। इदम्+तिथि +ई (ङीप्)। अथवा—इयत्य तिथयः यस्यां सा इतिथी—इयत्+तिथि-इतिथि। इतने दिन जिस में हों। दोनों अर्थों का एक ही भाव है—निश्चित अवधि वाले। अमुक फला। यह समाम् शब्द का विशेषण है। समाम—वर्ष। यह शब्द बहुधा स्त्रीलिंग बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। देखो—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजुर्वेद ४०।२। परंतु यहां पर एक वचन में ही प्रयुक्त हुआ है। तन्माघ—तत् के स्थान पर स का प्रयोग होना चाहिये था। ओघ—जल का समूह। जलप्लावन। आगन्ता—आ+√गम्+लुट् प्रथम पुरुष एक वचन। उपकल्प्य—उप+√क्लृप (बनाना) +ल्यप्। उपासासै—सेवन करना आश्रय लेना। उप+√आस बैठना+लेट्

मध्यम पुरुष एक वचन। आपत्स्यसे—आ+√पद प्राप्त होना+लृट् मध्यम पुरुष एक वचन। पारयितास्मि—√ पॄ बचना, पार लगना+णिच+लुट् उत्तम पुरुष एक वचन।

[अब ऋषि जलप्लावन की कथा आरम्भ करते हैं।]

५.

तमेव भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार। स यतिथीं तत्समां परिदिदेश, ततिथीं समां नावम् उपकल्प्योपासाञ्चक्रे।

स औघ उत्थिते नावमापेदे, तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे, तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच। तेनैतमुत्तरं गिरिमधिदुद्राव ॥५॥

५ अर्थ—उस [मछली] को इस प्रकार [अर्थात्—जैसे-जैसे मछली ने बताया था—पहले घड़े में और फिर खाई में] पाल कर [मनु ने उसे] समुद्र में छोड़ दिया। उस [मछली] ने जितनी अवधि वाले उस [जलप्लावन के] वर्ष का निर्देश किया था उस अवधि वाले [अर्थात्—उसी] वर्ष में [मनु] नौका बनाकर [उस का] सेवन करने लगा [अर्थात् उस नाव में रहने लगा]।

जल समूह के आने पर वह [मनु] नाव में चढ़ गया। वह मछली उस [मनु] से पास [नाव के] नीचे आ गई। उस [मछली] के सींग में [मनु ने] नौका की रस्सी को बाँध दिया। उस [नौका की रस्सी] के साथ वह [मछली] उत्तर दिशा के पर्वत [हिमालय] पर वेग के साथ चली गई।

५ टिप्पणियाँ—भृत्वा-√भृ पालना+क्त्वा। अभ्यवजहार-अभि+अव+√हृ (छोड़ना) +लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। छोड़ दिया। यतिथीम्—इतिथी के समान यावत्+तिथि—यतिथी।

जितना अवधि वाले। तत्—'ताम्' होना चाहिये। परिदिदेश—परि+√दिश+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। तावतीम्—तावत्+तिथि। उतनी अवधि वाल। उपासाचक्रे—बठ गया। सेवन किया। उप+√आस् बठना+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। उत्थिते—उत्+√स्था+क्त+पुंलिंग सप्तमी एक वचन। उठने पर उमडने पर आने पर। आपेदे—आ+√पद+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। उपन्यापुप्लुवे—उप+नि+आ+√प्लु जाना तरना+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। समीप में नीचे आ गई। प्रतिमुमोच—प्रति+√मुच+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। बांध दिया। अधिदुद्राव—अधि+√द्रु जाना, दौड़ना+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। वग से चली गई दौड़ गई।

.६

[मत्स्य:] स होवाच। "अपीपरं वै त्वा। वृक्षे नावं प्रतिबध्नीष्व। तं तु त्वा मा गिरौ सन्तम् उदकम् अन्तश्छैत्सीद्, यावद् उदकं समवायात्, तावत् तावदन्ववसर्पासीति।

स ह तावत् तावदेवान्ववससर्प। तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमिति।

ओघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाह। अथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे ॥६॥

[शतपथब्राह्मणे १. ८. १. १–६]

६ अर्थ—वह [मछली] बोली—'निःसन्देह [मैंने] तुम्हें पार उतार दिया है [या—बचा दिया है]। [अब अपनी] नाव को वृक्ष से बाँध दो। निःसन्देह पर्वत पर वर्तमान तुम्हें जल

बिल्कुल भी नष्ट नहीं कर सकेगा [शब्दार्थ—नहीं काट सकेगा]। जैसे-जैसे जल नीचे उतरता जाए वैसे-वैसे [तुम भी] नीचे उतर आना।

वह मनु [जैसे-जैसे जल नीचे उतरता गया] वैसे-वैसे ही नीचे उतर आया। [जहां से मनु नीचे उतरे] उत्तर दिशा के पर्वत [हिमालय] के उस इस [स्थान] को भी 'मनोरवसर्पण' (मनु के उतरने का स्थान) [कहते हैं]।

जलप्लावन ने उन सब प्रजाओं को बहा दिया। तब वहां [इस संसार में] मनु ही अकेला बचा।

६ टिप्पणियां— अपीपरम्—√पृ बचना, उतरना+णिच्+लुङ् उत्तम पुरुष एक वचन। पार उतार दिया है। बचा दिया है। सन्तम्—√अस होना+शतृ+पुल्लिंग द्वितीया एक वचन। अन्त — अन्त तक पूर्ण रूप से बिल्कुल। मा छैत्सीत्—मा के योग में लुङ् लकार का प्रयोग होता है और अ का लोप हो जाता है। अच्छैत्सीत्—√छिद+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। इस वाक्य का अन्वय 'गिरौ तु सन्तं त्वा उदकम् अन्तः मा छैत्सीत्' होगा। समवायात्—सम्+अव+आ+√या+लट् प्रथम पुरुष एक वचन यहां पर लट् लकार का प्रयोग विधिलिङ् के अर्थ में हुआ है। जैसे-जैसे पानी नीचे जाए उतरते जाओ। अन्ववसर्पासि—अनु+अव+√सृप जाना+लट् लकार मध्यम पुरुष एक वचन। नीचे उतरना। अन्ववससर्प—अनु+अव+√सृप+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। उतरा। अवसर्पणम्-अव+√सृप्+ल्युट्+नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। निरुवाह—निर्+√वह्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। ओघ-अव+वह्। परिशिशिषे—परि+√शिष्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

.४

मनोः प्रजातिः

मत्स्यावतारेतिहासस्योत्तरार्द्धः

१. सोऽर्चञ्छ्राम्यश्चचार प्रजाकामः। तत्रापि पाकयज्ञेनेजे। स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवाञ्चकार। ततः संवत्सरे योषित् सम्बभूव। सा ह पिब्दमानेवोदेयाय। तस्यै ह स्म घृतं पदे सन्तिष्ठते। तया मित्रावरुणौ सञ्जग्माते ॥७॥

मनु की प्रजा

(मछली के अवतार की कथा का उत्तरार्द्ध)

१ अर्थ—सन्तान का इच्छुक वह [मनु] पूजा करता हुआ और कष्ट झेलता हुआ रहने लगा। वहां भी उस ने पाकयज्ञ से हवन किया (अर्थात् पौष्टिक पदार्थों का सेवन किया)। उस ने जलों (अर्थात् प्राणों) में घी, दही, दही की मलाई, दही के पानी (अथवा दूध और दही की बनी लस्सी) का हवन किया। (=पान किया अर्थात्—सेवन किया)। उस से एक वर्ष में एक स्त्री उत्पन्न हुई। वह तो मानो शरीरधारी पाकयज्ञ ही उठ आई थी। उस के [निर्माण] के लिए आहुतियों में घी विद्यमान था। उस [स्त्री] से मित्रावरुण देवताओं (अर्थात्—प्राण और अपान, या प्राण और उदान) की भेंट हुई।

एक वर्ष मे स्त्री की उत्पत्ति का भाव अथर्ववेद ८।१०( )।' म भी है।

१ टिप्पणिया—अर्चन्—√अर्च पूजा करना+शतृ+पुल्लिग प्रथमा एक वचन । देवताओ की पूजा करता हुआ । श्राम्यन्—√श्रम् थकना परिश्रम करना+शतृ+पुल्लिग प्रथमा एक वचन । थकता हुआ, परिश्रम करता हुआ अर्थात कष्ट भोगता हुआ—तप करता हुआ । पाकयज्ञेन—शतपथब्राह्मण मे लिखा है—'पशवो हि पाकयज्ञ (२।३।१।२१) 'पशवो वा इडा (१।८।१।२०) । अपि च—शतपथब्राह्मण १।८।१।१२–१३ के आधार पर इडा का अर्थ इडा नामक यज्ञपात्र मे रक्खी हुई पुरोडाश आदि सामग्री है। यही पशु है। यही पाकयज्ञ है। अत इस ब्राह्मण के मत म पाकयज्ञ का अर्थ इडापात्र मे रक्खी हुई सामग्री है। इस अर्थ की पुष्टि अथर्ववेद ३ १० ११—'इडया जुह्वतो वय घृतवता यजे । गृहानलुभ्यतो वय स विशेमोप गोमत —यज्ञ म घीयुक्त सामग्री स हवन करते हुए लालचहीन हम गाओ से भरे हुए घरो को प्राप्त हो—से भी होती है। यहा यह सामग्री घृत दधि मस्त्वा मिक्षाम् इन पदो मे बताई गई है। अपम् शब्द का अर्थ प्राण है। अत पौष्टिक पदार्थों की प्राणो म आहुति अर्थात उन का प्रयोग ही पाकयज्ञ होना है ।

गोपथ ब्राह्मण (१।५।२३) के मत मे साय प्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च य । बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तम पशुरित्येते पाकयज्ञा । अर्थात—(१) प्रात और (२) साय हवन करना (३) नया पौष्टिक भोजन तय्यार करना (४) बलिवैश्वदेव यज्ञ (५) पितृ-यज्ञ (६) अष्टका यज्ञ और (७) पशुपालन यज्ञ—ये सात यज्ञ पाकयज्ञ होते हैं। आश्वलायन अपने गृह्यसूत्र मे इन की सख्या तीन ही बताते हैं और मनु चार ।

ईजे—√यज+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। मस्तु—दही की मलाई। आमिक्षा—दही का पानी अथवा दूध और दही की

मिला कर बनाई हुई लस्सी। आसु—जलो में प्राणों में। [देखो आपो व प्राणा। शतपथब्राह्मण ३।८।२।४]। जुहुवाचकार—√हु हवन करना दान करना ग्रहण करना+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। हवन किया ग्रहण किया। विब्दमाना—श्री मोनियर विलियम्ज ने इस का अर्थ 'स्थिर' दृढ किया है। ऋग्वेद १०।१०१।११ में सायण ने इस का अर्थ शब्द करते हुए किया है। परन्तु यहां पर 'धारण करते हुए' अर्थ ही उपयुक्त है। सायण ने यहां पर इस का अर्थ 'पाकयज्ञात्मिका' अर्थात् 'पाकयज्ञ रूप किया है। इस ब्राह्मण के आगे के लेख से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। अतः इस का सरल अर्थ शरीरधारी पाकयज्ञ किया जा सकता है। तस्य में तादर्थ्य में चतुर्थी है। पदे—स्थान में आहुतियां में। उदेयाय—उद+आ+√इ जाना+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। मित्रावरुणौ—मित्र और वरुण देवता। प्राण अपान या प्राण और उदान को भी मित्रावरुण कहते हैं। सञ्जग्माते—सम्+√गम् जाना+लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन आत्मनेपद। मिल।

२. तां ह होचतु—काऽसीति। मनोर्दुहितेति। आवयोर्ब्रूष्वेति। नेति होवाच। य एव मामजीजनत, तस्यैवाऽहमस्मीति। तस्यामपि त्वमीषाते। तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावतित्वेवेयाय। सा मनुमाजगाम ॥८॥

२ अर्थ—उन [मित्र और वरुण—प्राण और अपान या प्राण और उदान] ने उस [पाकयज्ञात्मिका स्त्री] से पूछा—[तुम] कौन हो? [उस स्त्री ने उत्तर दिया] कि [मैं] मनु की पुत्री [हूँ]।' [मित्रावरुण ने कहा कि ऐसा मत कहो वरन्] यह कहो कि हमारी पुत्री हो]।

[उस स्त्री ने] उत्तर दिया— नहीं। [यह कहना सम्भव नहीं]। जिस ने ही मुझे उत्पन्न किया है उस की ही मैं [पुत्री] हूँ।

परन्तु उस [स्त्री] पर भी वे दोनों [मित्र और वरुण] शासन करते हैं (अर्थात्—अधिकार रखते हैं) । उस [स्त्री] ने इस [तथ्य] को माना अथवा न माना परन्तु वह [वहां से] चली गई । वह मनु के पास पहुंची ॥८॥

इस सन्दर्भ का भाव यह है कि प्राण और अपान या प्राण और उदान ने शरीरधारी पाकयज्ञ रूप स्त्री (अर्थात्—पौष्टिक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न शक्ति) ने पूछा कि वह कौन है । उस स्त्री ने कहा कि मुझे मनु ने बडी कठिनता से [दु दु खेन हिता स्थापिता प्राप्ता इति दुहिता] प्राप्त किया है । इस पर मित्रावरुण (प्राण, अपान) ने उस स्त्री (= शक्ति) पर अधिकार बनाया । परन्तु स्वयं । ऋषि कहते है कि वस्तुत मित्रावरुण का भी उस स्त्री (शक्ति) पर अधिकार था क्यो कि आहुतिया देवताओ को दी जाती हैं । उन की सम्पत्ति दोनों हैं अत आहुतियो से उत्पन्न वह स्त्री मित्र और वरुण की पुत्री थी । मनुष्य का अस्तित्व प्राणो के साथ ही है । अत उस की शक्ति प्राणो की भी है ।

२ टिप्पणियां—ऊचतु —√वच बोलना + लिट प्रथम पुरुष द्विवचन । अजीजनत—√जन् उत्पन्न होना + णिच + लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । त्वमीयाते—तु + अमी + ईयाते । अमी—द्विवचन । यहा 'अमू' के स्थान पर अदस का पुल्लिग प्रथमा बहुवचन प्रयुक्त हुआ है । ईयाते—√ईश से लट् प्रथम पुरुष द्विवचन । जज्ञौ—√ज्ञा + लिट प्रथम पुरुष एक वचन । यह 'प्रतिजज्ञौ' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । मान लिया, स्वाकार कर लिया । अतित्वेवेयाय—अति + तु + एव + इयाय । इयाय—√इ + लिट प्रथम पुरुष एक वचन । अति का इयाय से सम्बन्ध है । छोड कर—अतिक्रमण कर के चली गई ॥८॥

३ तां ह मनुरुवाच—काऽसीति । तव दुहितेति । कथं भगवति मम दुहितेति । या अमूरप्स्वाहुतीरहौषीर् घृत दधि मस्त्वामिक्षा, ततो मामजीजनथाः । साऽऽशी-

मिला कर बनाई हुई लस्सी। अप्सु--जलों में प्राणों में। [देखो आपो व प्राणा। शतपथब्राह्मण ३।८।२।४]। जुहवाचकार--√हु हवन करना दान करना ग्रहण करना+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। हवन किया ग्रहण किया। तिष्ठमाना--श्री मानियर विलियम्ज ने इस का अर्थ 'स्थिर' दृढ किया है। ऋग्वेद १०।१०१।११ में सायण ने इस का अर्थ 'शब्द करते हुए' किया है। परन्तु यहां पर धारण करने हुए' अर्थ ही उपयुक्त है। सायण ने यहां पर इस का अर्थ 'पाकयज्ञात्मिका' अर्थात 'पाकयज्ञ रूप' किया है। इस ब्राह्मण के आगे के लेख से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। अतः इस का सरल अर्थ शरीरधारी पाकयज्ञ किया जा सकता है। तस्य में तादर्थ्य में चतुर्थी है। पदे--स्थान में आहुतियों में। उदेयाय--उद्+आ+√इ जाना+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। मित्रावरुणौ--मित्र और वरुण देवता। प्राण अपान या प्राण और उदान को भी मित्रावरुण कहते हैं। सजग्माते--सम्+ √गम् जाना+लिट प्रथम पुरुष द्विवचन आत्मनेपद। मिले।

२. तां ह मित्रावरुणौ ऊचतुः--कासीति। मनोर्दुहितेति। आवयोर्ब्रूष्वेति। नेति होवाच। य एव मामजीजनत, तस्यैवाऽहमस्मीति। तस्यामपि त्वमीषाते। तद्वा जज्ञौ तद्वा न जज्ञावतित्वेवेयाय। सा मनुमाजगाम ॥८॥

२ अर्थ--उन [मित्र और वरुण--प्राण और अपान या प्राण और उदान] ने उस [पाकयज्ञात्मिका स्त्री] से पूछा--[तुम] कौन हो? [उस स्त्री ने उत्तर दिया] कि [मैं] मनु की पुत्री [हूँ]।' [मित्रावरुण ने कहा कि ऐसा मत कहो वरन्] यह कहो कि हमारी पुत्री हो]।

[उस स्त्री ने] उत्तर दिया-- नहीं। [यह कहना सम्भव नहीं]। जिस ने ही मुझे उत्पन्न किया है उस की ही मैं [पुत्री] हूँ।

परन्तु उस [स्त्री] पर भी वे दोनों [मित्र और वरुण] शासन करते हैं (अर्थात्—अधिकार रखते हैं) । उस [स्त्री] ने इस [तथ्य] को माना अथवा न माना परन्तु वह [वहां से] चली गई । वह मनु के पास पहुंची ॥८॥

इस सन्दर्भ का भाव यह है कि प्राण और अपान या प्राण और उदान ने शरीरधारी पाकयज्ञ रूप स्त्री (अर्थात—पौष्टिक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न शक्ति) से पूछा कि वह कौन है । उस स्त्री ने कहा कि मुझे मनु ने बड़ी कठिनता से [इ दु खेन किना स्थापिता प्राप्ता इति दुहिता] प्राप्त किया है । इस पर मित्रावरुण (प्राण, अपान) ने उस स्त्री (= शक्ति) पर अधिकार बनाया । परन्तु स्वयं । ऋषि कहते हैं कि वस्तुत मित्रावरुण का भी उस स्त्री (शक्ति) पर अधिकार था क्यों कि आहुतियां देवताओं को दी जाती हैं । उन की सम्पत्ति होती है अत आहुतियों से उत्पन्न वह स्त्री मित्र और वरुण की पुत्री थी । मनुष्य का अस्तित्व प्राणों के साथ ही है । अत उस की शक्ति प्राणों की भी है ।

२ टिप्पणियां—ऊचतु —√वच बोलना+लिट प्रथम पुरुष द्विवचन । अजीजनत—√जन् उत्पन्न होना+णिच+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । नमीषाते—नु+अमी+ईषाते । अमी—द्विवचन । यहां 'अमू के स्थान पर अदस' का पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन प्रयुक्त हुआ है । ईषाते—√ईष से लट् प्रथम पुरुष द्विवचन । जज्ञौ—√ज्ञा+लिट प्रथम पुरुष एक वचन । यह 'प्रतिजज्ञौ' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है । मान लिया, स्वीकार कर लिया । अतिरेवेयाय—अति+नु+एव+इयाय । इयाय—√इ+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन । अति का इयाय से सम्बन्ध है । छोड़ कर—अतिक्रमण कर के चली गई ॥८॥

३. ता ँ ह मनुरुवाच—काऽसीति । तव दुहितेति । कथ भगवति मम दुहितेति । या अमूरप्स्वाहुतीरहौषीर् घृत दधि मस्त्वामिक्षा, ततो मामजीजनथाः । साऽऽशी-

रस्मि । ता मा यज्ञेऽवकल्पय । यज्ञे चेद्वै माऽवकल्पयिष्यसि, बहुः प्रजया पशुभिर्भविष्यसि । यामु मया काञ्चाऽऽशिष माशासिष्यसे, सा ते सर्वा समर्द्धिष्यत इति ।

तामेतन्मध्ये यज्ञस्याऽवाकल्पयत् । मध्यं ह्येतद् यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान् ॥६॥

३ मनु ने उस [इडा] से पूछा—[तुम] कौन हो।' [इडा ने उत्तर दिया]—[मैं] तुम्हारी पुत्री [हूँ]।' [मनु ने फिर पूछा] 'कि हे ऐश्वर्यशालिनी देवि! [आप] मेरी पुत्री कैसे [हैं] ?' [उस इडा ने उत्तर दिया]-'[आप ने] जो वे घी, दही दही की मलाई और दही के पानी [अथवा] दूध दही की बनी हुई लप्सी] की जलों (=अर्थात प्राणों) में आहुतियां दी थीं, उन से मुझे उत्पन्न किया है। वह [मैं आप की] भलाई की कामना [ही] हूँ। उस मुझे [आप] यज्ञ मे [अपना] अङ्ग (अर्थात्—साथी, पत्नी) बना लें। यदि नि सन्दिग्ध रूप से [आप] मुझे यज्ञ में अपना (=साथी, पत्नी) बना लेंगे [तो आप] सन्तान और पशुओं से बहुत [सम्पन्न] हो जायेंगे। नि सन्देह मेरे साथ मे [आप] जिस किसी हितकामना की चाहना करेंगे वह सब तुम्हें अच्छी प्रकार सिद्ध हो जायगी (शब्दार्थ—खब बढ़ जायगी)।

इस का भाव यह है कि मुझ अपनी पत्नी बना कर मुझ से काम लो। म तुम्हारी शक्ति हू। ससार म सब काम शक्ति से ही सिद्ध होते है। अत मेरे से तुम्हारी सब ही इच्छाए पूरा हो जायेंगी। दूसरी ओर विवाह द्वारा ही सन्तान की प्राप्ति होती है। गृहस्थी होने पर ही मनुष्य ससार के कामो म आसक्त हो कर अनेक प्रकार के काम करता है और यशस्व बनता है। अत यह ब्राह्मण इस सुन्दर गल्प के द्वारा

मनुष्यों को ब्रह्मचर्य आश्रम में नवीन सगृहीत कर के गृहस्थ म प्रवेश करने विवाह करने सतान उत्पन्न करने तथा धन कमाने की शिक्षा दे रहा है।

[मनु ने] [उस की प्रार्थना और आग्रह पर] उस [इडा] को यज्ञ के बीच में अपना अङ्ग बना लिया। नि सन्देह यज्ञ का बीच यही है जो प्राण (प्रयाज) और अपान (अनुयाज) के बीच में है ॥६॥

भाव यह है कि मनु ने उस शक्ति को अपना अङ्ग बना लिया और उस से शक्तिसम्पन्न हो कर वह यज्ञ (= अच्छे अच्छे कर्म) करने लगा। समस्त कर्मों का केन्द्र प्राण और अपान के बीच में स्थित है। अत मनु ने उस शक्ति से प्राण और अपान के बीच में स्थित इस कर्मों के केन्द्र को शक्तिशाली बना दिया।

ताम् इति

३ टिप्पणियां—भगवति-भग ऐश्वर्य को कहते है। अत ऐश्वर्यशालिनी देवी कल्याणी, भाग्यवती। यहा यह सम्बोधनरूप है। अमू = अदस्—शब्द का स्त्रीलिङ्ग द्वितीया बहुवचन। आहुती—आहुति का द्वितीया बहुवचन। मति के समान रूप बना है। अहौषी—√हु + लुङ मध्यम पुरुष एक वचन। हवन किया था। दधि मस्तु—दोनो द्वितीया के एक वचन हैं और अहौषी क्रिया के कर्म है तथा 'आहुती' पद का व्याख्यान है। अजीजनथा—√जन् + णिच + लुङ, मध्यम पुरुष एक वचन। आशी—भलाई की कामना। मा—अस्मद का द्वितीया के एक वचन का दूसरा रूप। साधारण रूप 'माम्' होता है। अवकल्पय—अव + √क्लृप + णिच + लोट मध्यम पुरुष एक वचन। अङ्ग बनाओ। मया—यहा पर सह' का अध्याहार करना चाहिए। मेरे साथ। मेरे साहचर्य में अर्थात् मुझ से युक्त हो कर। आशासिष्यसे—आ + √शास् + णिच् + लृट मध्यम पुरुष एक वचन।

ते=तव । तुम्हारी । समर्धिष्यते—सम्+√ऋध् (बढ़ना) (दिवादि) +लट् प्रथम पुरुष एक वचन । इस के रूप—ऋध्यति । ऋध्येत् । ऋध्यतु। आर्धत (लङ्) । आनद्ध (लिट्) । अर्धिष्यति । आर्द्ध त आर्द्धताम्, आर्द्धत् (लुङ्) । ईर्त्सति (सन्नन्त) । अर्धयति (णिजन्त) और अर्धित्वा बनते हैं। यहां आत्मनेपद का प्रयोग वैदिक है। इसे कर्म व्यतिहार का प्रयोग मान कर भी आत्मने पद आया माना जा सकता है।

ताम्   प्रयाजानुयाजान्

एतत्—यहाँ 'एनाम्' के लिए आया है । उस मत्रावरुणी मानवी पिब्दमाना इडा को। अवाकल्पयत्—अव+√क्लप्+णिच्+लङ् प्रथम पुरुष एक वचन । प्रयाजानुयाजान्—ऐतरेय कौषीतकि शतपथादि ब्राह्मणों के मत मे—'प्राणा वै प्रयाजा' और अपाना अनुयाजा' अर्थात् प्रयाज=प्राण और अनुयाज=अपान हैं। अत प्रयाजानुयाजान् का अर्थ प्राण और अपान है। इस अर्थ की पुष्टि प्राणा वै प्रयाजानुयाजा' (शतपथब्राह्मण १४।२।२।५१)—प्राण ही प्रयाजानुयाज हैं, तथा 'पयाजानुयाजा वै देवा आज्यपा' (शतपथब्राह्मण १।४।२।१७ आदि)—घी पीने वाले देवता ही प्रयाजानुयाज हैं से भी होती है। भाष्यकार सायण ने 'प्रयाजा' का अर्थ इस नाम के मन्त्र और 'अनुयाजा' का अर्थ घी की आहुति' रक्खा है। यह अर्थ मध्य काल की विकृत याज्ञिक मनोवृत्ति को बताता है तथा भाष्यकार के ब्राह्मण के मूल भावों के अनवबोध का परिचय देता है । वास्तव म यह सम्पूर्ण आख्यायिका काल्पनिक और आलंकारिक है। ब्राह्मण ने स्वय इस का निर्देश किया है। कुछ आधुनिक वैदिक विद्वान् मध्यकालीन शैली के पीछे चलते हुए लेख के पूर्वार्ध को ले लेते हैं और उत्तरार्ध की उपेक्षा कर देते हैं । इस प्रकार वे मनमाने निष्कर्ष निकालते रहते हैं।

४ तयाऽर्चञ्छ्राम्यश्चचार प्रजाकाम । तयेमां प्रजातिं प्रजज्ञे, येयं मनो प्रजातिर् याम्वेनया काञ्चाऽऽशिषमाशास्त साऽस्मै सर्वा समार्द्ध्यत ॥१०॥

४ सन्तान का इच्छुक [वह मनु] उस [इडा] के साथ पूजा करता हुआ और कष्ट झेलता हुआ रहने लगा। उस [इडा] के साथ [उस ने] इस प्रजा को उत्पन्न किया जो यह मनु की प्रजा [कहलाती है।] लालसा से [प्रेरित हो] (अथवा उस के साथ) उस [मनु] ने जिस किसी हितकामना की चाह की वह सब उसे पूर्ण रूप में प्राप्त हो गई ॥१॥

४ प्रजातिम्—प्र+√जन्+क्तिन्। द्वितीया एक वचन। प्रजाओं को। प्रजज्ञे—प्र+√जन्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन। यहां णिजन्त का भाव अभीष्ट है। वेनया—वना से तृतीया एक वचन। कामना से लालसा से इच्छा से। 'याम्वेनया' का पदच्छेद याम् उ एनया' भी किया जा सकता है। एनया—इदम् पद का स्त्रीलिंग तृतीया एक वचन है। इस पदच्छेद से अर्थ यद्यपि पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इस में उत्कट अभिलाषा का भाव नष्ट हो जाता है। बिना उत्कट अभिलाषा के मनुष्य कर्मों में अपनी इच्छा से प्रवृत्त नहीं होता है। अतः 'या वेनया' यही पदच्छेद अच्छा है। आशास्त—आ+√शास्+लट्, प्रथम पुरुष एक वचन।

५. सैषा निदानेन यदिडा। स यो हैव विद्वानिडा चरत्येता ँ हैव प्रजातिं प्रजायते, यां मनुः प्राजायत। याम्वेनया काञ्चाऽऽशिषमाशास्ते, साऽस्मै सर्वा समृद्ध्यते।

५ चिह्नों से [निश्चय किया जा सकता है] कि वह [स्त्री] यह [ही है।] जो इडा [पात्र में रखी हुई सामग्री है।]

नि सन्देह जो इस प्रकार जानने वाला है और इडा के साथ रहता है वह नि सन्देह उसी सतान को उत्पन्न करता है जिस को मनु ने पैदा किया और उत्कृष्ट इच्छा से (अथवा उस के द्वारा) जिस किसी हितकामना की चाह करता है [उस की] वह सब [हितकामना] सम्पूर्ण रूप से फलती फूलती है ॥ ११ ॥

५ टिप्पणी—निदानेन—पहचान से चिह्नों से ॥११॥

भाव यह है कि जो व्यक्ति यज्ञ मे आहुति डाल कर अपने स्व थ का त्याग कर दूसरो का उपकार करने की भावना रखता है उस की सब शुभ कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। यही भ व वसिष्ठ धमसूत्र २९।१ के 'दानेन सर्वान् कामान् अवाप्नोति'—दान से सब कामनाओं को प्राप्त करता है—म है।

[शतपथब्राह्मणे १।८।१।७—११]

.५.

शुन शेपाख्याने वरुणस्य तितिक्षा

कथा का प्रयोजन और भाषा

१ यह कथा राजसूय यज्ञ से सम्बन्ध रखती है। देखने में इस मे मानव की बलि का आभास मिलता है, परन्तु ऐसी बलि यहा न दी गई है, न अभीष्ट है। वस्तुत अजीगर्त सौयवसि

स्वार्थपरता का और शुनःशेप परोपकार लोककल्याण और राष्ट्रहित का द्योतक है। आख्यान शब्द का अर्थ—'आ समन्तात् समग्ररूपेण वा ख्यायते—वर्ण्यते प्रस्तूयते वा'—अर्थात् जो समग्रता से—स्पष्टता से वर्णित किया जाय—रक्खा जाय, वह आख्यान है। इस का एक पर्याय 'इतिहास' (इति ह आस'—इस प्रकार प्रस्तुत किया है—वर्णित किया है) है। अतः आख्यान किसी तथ्य को रोचक, कहानी के रूप में वर्णित करने को कहते हैं। देवताओं और सृष्टि से सम्बन्ध के कारण इन्हें पुराकथा भी कहते हैं।

२ इस कथा में वाक्य पूरे पूरे नहीं हैं। बहुत सा भाव अध्याहार द्वारा स्पष्ट और पूर्ण किया जाता है।

135
110

शुनःशेपाख्याने वरुणस्य तितिक्षा

शुनःशेप के आख्यान में वरुण की सहनशीलता

१ अथैनमुवाच वरुणं राजानमुपधाव—"पुत्रो मे जायतां, तेन त्वा यजा" इति।

१ अथ—अब उस [राजा हरिश्चन्द्र] को [नारद ने] कहा—कि राजा वरुण की [शरण में] जाओ [और प्रार्थना कर कहो] कि 'मेरे लड़का हो जाए, उस से तुम्हारे लिए यज्ञ करूंगा।'

१ टिप्पणियां—उपधाव—उप+√धाव् + लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। यजा इति—यजै+इति। यजै—√यज्+लोट् उत्तम पुरुष एक वचन।

[हरिश्चन्द्रः] * २. "तथे"ति ।

[हरिश्चन्द्रः] स वरुण राजानमुपससार—"पुत्रो मे जायता, तेन त्वा यजा" इति ।

[वरुणः] "तथे"ति ।

तस्य पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम । इति ।

[वरुण,] त होवाच—"अजनि वै ते पुत्रः । यजस्व मानेने"ति ।

अर्थ—[हरिश्चन्द्र] "बहुत अच्छा" [कह कर मान गया] ।

[हरिश्चन्द्र] वह राजा वरुण के पास गया—'मेरे पुत्र हो जाए । उस से मैं तुम्हें यज्ञ करूं गा ।'

[वरुण]—[वरुण ने उस की बात मानते हुए कहा] 'बहुत अच्छा । उस [हरिश्चन्द्र] को एक पुत्र उत्पन्न हुआ [जिस का] नाम रोहित [था] ।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र] को कहा—'तुझे पुत्र हो गया है । मुझे इस से [अर्थात्—इस को] यज्ञ कर दो [=बलि दे दो ?]"

२ टिप्पणिया—उपससार—उप+√सृ+लिट प्रथम पुरुष एक वचन । जज्ञे—√जन्+लिट प्रथम पुरुष एक वचन । अजनि—√जन्+कर्मवाच्य+लुङ प्रथम पुरुष एक वचन । यजस्व—√यज्+

---

* इस सम्पादन मे संस्कृत और हिन्दी अनुवाद मे बाईं ओर [ ]-इन कोष्ठको मे कहानी मे संवाद की उक्तियों के वक्ताओं के नाम दिए गए हैं । ये नाम मूलपाठ के अंश नही है । सम्पादक द्वारा भाव को स्पष्ट करने के अभिप्राय से जोडे गए हैं ।

लोट् मध्यम पुरुष एक वचन आत्मनेपद । मा—अस्मद्+द्वितीया एक वचन पुल्लिंग ।

[हरिश्चन्द्र] ३ —स होवाच—"यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति । निर्दशो न्वस्तु । अथ त्वा यजा" इति ।

[वरुण]—"तथे"ति ।

[वरुण]—स ह निर्दश आस । तं होवाच—"निर्दशो न्वभूद्, यजस्व माऽनेने"ति ।

[हरिश्चन्द्र] ३ अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] बोला [अर्थात्-उस ने उत्तर दिया]—जब पशु दस दिन के ऊपर का हो जाता है [शब्दार्थ-दस दिन पार कर लेता है ।] तब [ही] वह यज्ञ के योग्य होता है । [इस लिए] इसे दस दिन का हो जाने दो । तब तुम्हारे लिए यज्ञ करूंगा।"

[वरुण]—[वरुण ने मानते हुए कहा] ऐसा [ही हो] ।

[वरुण]—वह [रोहित] दस दिन पार कर चुका [अर्थात् दस दिन का हो गया ।] [उस वरुण] ने उस [राजा हरिश्चन्द्र] से कहा— निःसन्देह यह दस दिन का हो गया है । [अब तो] इस से मुझे यज्ञ करो ।"

३, टिप्पणियां—पशु —जो देखता है, या जिसे देखते हैं, वह पशु कहलाता है । पुरुष, अश्व गाय, भेड बकरी—ये पांच पशु हैं । यज=देवपूजा संगतिकरण और दान के योग्य सशक्त और समर्थ प्राणी ही सकता है । अतः हरिश्चन्द्र इस प्रकार कह कर रोहित के युवक होने तक वरुण को मनाता रहता है, और वरुण भी मानता

रहता है। निर्दश —निष्क्रान्त निगत वा दशभ्य दिनेभ्य —दस दिन म पार गया हुआ अत दस दिन की आयु का। इस से पहले अशौच का काल भी होता है। मेध्य —√मेध+ण्यत्+पुल्लिग प्रथमा एक वचन। √मेध के अथ मेधा हिंसा और सगम (मिलन) है। सामान्यत इस के अथ पवित्र होने, हिंसा करने योग्य होते है। बलि स पूव भी है। सगमन—मिलना यनक्रम है। आस—√अस् होना+लिट लकार प्राणी को शुद्ध किया जाना प्रथम पुरुष एक वचन। अभूत्—√भू+लुङ प्रथम पुरुष एक वचन।

[हरिश्चन्द्रः] ४. स होवाच—"यदा वै पशोर्दन्ता जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य जायन्ताम्। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुणः] "तथे"ति। इति।
तस्य ह दन्ता जज्ञिरे।

[वरुण.] त होवाच—"अज्ञत वा अस्य दन्ताः। यजस्व माऽनेने"ति।

[हरिश्चन्द्र] ४ अर्थ—उस [हरिश्चन्द्र] ने उत्तर दिया—'जब पशु के दात निकल आते है, तब वह यज्ञ के योग्य होता है। इस के दात आ जाए। तब [मैं] तुम को यज्ञ करूंगा।"

[वरुण]—[वरुण ने कहा]-'बहुत अच्छा'।
उस के दात निकल आए।
उस [हरिश्चन्द्र] को [वरुण ने] कहा—"इस के दात निकल आए है। इस [रोहित] से मुझे [अर्थात् मेरे लिये] यज्ञ करो।"

४ टिप्पणियां—वै—निश्चयद्योतक अव्यय है। सामान्यत वाक्य मे इस का अर्थ नही किया जाता है। जज्ञिरे—√जन्+लिट प्रथम पुरुष बहुवचन। अज्ञत—√जन्+लुङ् प्रथम पुरुष बहुवचन।

[हरिश्चन्द्र.] ५ स होवाच—"यदा वै पशोर्दन्ता पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य पद्यन्ताम्। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुण.] "तथेति" इति।
तस्य ह दन्ता पेदिरे।

[वरुण.] त होवाच—"अपत्सत वा अस्य दन्ताः। यजस्व माऽनेने"ति।

[हरिश्चन्द्र.] स होवाच—"यदा वै पशोर्दन्ताः पुनर्जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्ताम्। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुणः] "तथेति" इति।
तस्य ह दन्ता पुनर्जज्ञिरे,

[वरुणः] त होवाच—"अज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ताः, यजस्व माऽनेने"ति।

[हरिश्चन्द्र]-५ अर्थ—वह [हरिश्चन्द्र] बोला—'नि सन्देह जब पशु के [दूध के] दात गिर जाते हैं तब वह यज्ञ के योग्य होता है। इस के दात गिर जाए। तब [मैं] तुम को यज्ञ करूं गा।"

[वरुण] [वरुण मान गया कि] 'बहुत ठीक'।

उस [रोहित] के [दूध के] दांत गिर गए।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र से फिर] कहा—"इस [रोहित] के दांत गिर गए हैं। [अब] इस [रोहित] से मेरे लिए यज्ञ करो।"

[हरिश्चन्द्र]—उस [हरिश्चन्द्र] ने [फिर टलाते हुए] कहा—निःसन्देह जब पशु के दांत निकल आते हैं, तब वह यज्ञ के योग्य होता है। इस के दांत फिर निकल आने दो। तब [मैं] तुम्हें उस [रोहित] से यज्ञ कर दूंगा।

[वरुण]—[वरुण मान गया]—'बहुत अच्छा।

उस [रोहित] के दांत फिर निकल आए।

[वरुण]—[वरुण ने] उस [हरिश्चन्द्र] से [फिर] कहा—'इस के दांत फिर निकल आए हैं। [अब] मेरे लिए इस से यज्ञ करो।"

५ *टिप्पणियां—पद्यन्ते*—√पद जाना से लट् प्रथम पुरुष बहुवचन। इस में अव+√पद का भाव अभिप्रेत है। अव उपसर्ग का प्रयोग नहीं किया गया है, क्यों कि √पद बिना उपसर्ग के भी 'गिरना' अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ है। पद्यन्ताम्—√पद्+लोट् प्रथम पुरुष बहुवचन। पेदिरे—√पद्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन। अपत्सत—√पद्+लुङ् प्रथम पुरुष बहुवचन।

[हरिश्चन्द्रः] ६. स होवाच—"यदा वै क्षत्रियः सान्नाहुको भवति, अथ स मेध्यो भवति। सन्नाहं नु प्राप्नोतु। अथ त्वा यजा" इति।

[वरुण] "तथेति" । इति ।
स ह सनाह प्रापत् ।

[वरुण.) त होवाच—"सनाह नु प्राप्नोद्, यजस्व माऽनेने" ति ।

(हरिश्चन्द्रः) ' स तथे"त्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामास—
' तताय वै मह्यमदाद्धन्त, त्वयाऽहमिम यजा इति ।" इति ।

(रोहित') स ह "ने"त्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपातस्थौ । स सवत्सरमरण्ये चचार ॥२॥

[हरिश्चन्द्र]—६ उस [हरिश्चन्द्र] ने [फिर] टलाते हुए । कहा–' नि सन्देह जब क्षत्रिय शस्त्रधारी हो जाता है तब वह यज्ञ के योग्य होता है । [इस बालक को] शस्त्र [ज्ञान] प्राप्त कर लेने दो । तब [मैं' इस से यज्ञ कर दू गा।"

[वरुण]—स्वीकार करते हुए वरुण ने कहा]—'अच्छा' ।
उस [रोहित] ने शस्त्र [ज्ञान] प्राप्त कर लिया ।

[वरुण]—[वरुण ने अब फिर] उस [हरिश्चन्द्र] को कहा—निश्चय से [इस रोहित ने अब तो] शस्त्र [ज्ञान] प्राप्त कर लिया है । [अब] इस से मेरे लिये यज्ञ करो ।

[हरिश्चन्द्र]—उस [हरिश्चन्द्र] ने [अब आगे टलाने का बहाना न पा कर] 'अच्छा यह कह कर पुत्र को बुलाया [और कहा]।

[हरिश्चन्द्र]— 'प्रिय [पुत्र] ! इस वरुण ने ही [तुम को] मुझे दिया था। अहो ! इस लिए [मैं] तुम्हारे से इस के लिए यज्ञ करूंगा [अर्थात्—यज्ञ में तुम्हें इस की बलि चढ़ाऊंगा]।

[रोहित]—वह [रोहित]—'नहीं' [ऐसा नहीं हो सकता] यह कह कर धनुष लेकर जंगल में भाग गया [शब्दार्थ—चला गया]। वह वर्ष भर जंगल में घूमता रहा।

६ टिप्पणियां—सानाहुक—सनद्ध, वा सनाह प्राप्तु वा धारयितु वा शीलमस्यास्ति इति । सम्+√नह्+उकञ्+पुलिङ्ग प्रथमा एक वचन । शस्त्र धारण करने का स्वभाव—सामर्थ्य, अत शस्त्रज्ञान । प्रापत्—प्र+√आप्+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। प्राप्नोत्—प्र+√आप्+लङ् प्रथम पुरुष एक वचन। आमन्त्रयामास—आ+√मन्त्र+णिच+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। इस रूप में √अस होना का लिट् लकार का रूप प्रयुक्त किया गया है। ऐसे धातुओं के आगे √कृ और √भू के भी लिट् लकार के रूप प्रयुक्त किये जा सकते है। अदात्—√दा+लुङ् प्रथम पुरुष एक वचन। उपातस्थौ—उप+आ+√स्था+लिट प्रथम पुरुष एक वचन। संवत्सरम्—एक वर्ष एक साल तक। निरन्तर काय चालू रहने के कारण काल वाचक पद संवत्सर में द्वितीया आई है। चचार—√चर्+लिट् प्रथम पुरुष एक वचन।

[ऐतरेय ब्राह्मणे ३३।२]

[इस से आगे की कथा पहले २. चरैवेति में दी जा चुकी है।]



तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षावल्ली

उपनिषद्

१ आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मण काल के क्रियाकाण्ड के आडम्बर से जब लोग ऊब गये तो उस के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया और वह उपनिषदों के रूप में व्यक्त हुई। अतः उपनिषद् ब्राह्मणों के बाद की रचनाएँ हैं। परन्तु स्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती। उपनिषद् वेदों के आध्यात्मिक स्थलों के ही व्याख्यान मात्र हैं। इन का प्रधान विषय ब्रह्म जीव और प्रकृति तथा उन के सम्बन्ध का विवेचन है। श्री कुमारस्वामी ने तो अपने ग्रन्थ 'A New Approach to the Study of Veda' में उपनिषदों की सहायता से वेद का अर्थ करने का सुझाव दिया है। ये उपनिषद् ही पिछले छै दर्शनों के मूल स्रोत मानेजाते हैं।

२ प्रत्येक वेद के उपनिषद् अलग-अलग हैं। इन में से ईशोपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय ही है। कुछ उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यकों के अन्तिम भाग हैं। कुछ स्वतन्त्र भी हैं। वैसे तो आज असख्य उपनिषद् मिलते हैं परन्तु प्रामाणिक और प्राचीन कुल १२ उपनिषद् हैं—ईश केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य ऐतरेय, कौषीतकि, प्रश्न तैत्तिरीय बृहदारण्यक छान्दोग्य और श्वेताश्वतर। समस्त उपनिषदों को (१) वैदिक (२) आर्ष (३) साम्प्रदायिक और (४) कृत्रिम—इन चार भागों में

बाटा जा सकता है। उपनिषदो की भाषा बडी सरल, रोचक, प्रभावोत्पादक और सप्रवाह है। वहा क्लिष्टता तो प्राय नाममात्र को भी नही है। उन मे ब्राह्मणकालीन भाषा के दोषो का प्राय प्राय अभाव है। वास्तव मे भावो की प्राचीनता होते हुए भी वे भाषा के दृष्टिकोण से अर्वाचीन ही है। इन मे कुछ गद्य म है कुछ पद्य मे और कुछ मिश्रित है। इन का समय ८०० से १००० ई० पू० माना जाता है। परन्तु यह सीमा सर्वसम्मत नही। सम्भवत उपनिषद् निर्माणकाल बहुत पहले जाता है।

परिचय

३ तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्ब ध रखता है। यह तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। यह उपनिषद् एक लोकप्रिय कृति है और अपनी उच्च नैतिक शिक्षाओ, अध्यात्मविद्या और पञ्चकोशो के सिद्धात के कारण बडे महत्त्व का है।

सार

४ प्रथम भाग म पाच महायज्ञो की महिमा बताई है। ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ, अतिथियज्ञ पितृयज्ञ और भूतयज्ञ अवश्य करने चाहिए। प्रधान बल तप, सत्य और स्वाध्याय प्रवचन पर दिया गया है। अतिम को ही सर्वश्रेष्ठ माना है॥ [अनुवाक ६]।

५ अब विद्यार्थी वेद पढ चुका। वह ससार म प्रवेश करने के लिये जाना चाहता है। उस का समावर्तन सस्कार होता है। उस समय—विदा के काल मे—गुरु अपने प्रिय शिष्य को सासारिक व्यवहार म काम आने वाली मुख्य मुख्य शिक्षाओ का पुन उपदेश करते हुए कहता है कि सत्य बोलना, धर्म पर चलना स्वाध्याय करना। कुशल और उन्नति का ध्यान रखना। सतान की पालना

करना ॥३॥ माता पिता, अतिथि, आचार्य और विद्वानों की सेवा करना। उन के गुण ग्रहण करना, दोषों की उपेक्षा करना ॥४॥ श्रेष्ठ विद्वानों का आदर करना। हर प्रकार से दान करना ॥५॥ नव कर्म के सम्बन्ध में कुछ सदेह हो तो निस्वार्थ, धार्मिक, प्रियवादी विचारशील और कर्त्तव्यपरायण ब्राह्मणों का अनुकरण करना। यही अंतिम उपदेश है। [अनुवाक ११]

महत्त्व

६ यह उपदेश आज भी प्रत्येक विद्यार्थी को मिलना चाहिये। दीक्षान्त भाषणों में ऐसे ही उपदेशों की आवश्यकता है। कुछ विश्वविद्यालयों ने दीक्षान्त समारोहों में इसे उपकुलपति की प्रेरणा और आदेश के रूप में ग्रहण किया भी है।

७

मूल, अर्थ और टिप्पणियां

तप:

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः ॥
तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः ॥
स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः ॥
तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥६॥
इति नवमोऽनुवाकः ॥९॥

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षा की वल्ली

तप

अर्थ—ऋत [शास्त्रादि द्वारा बुद्धि में निश्चय किया हुआ अर्थ अथवा वेदाध्ययन अथवा नियम और अनुशासन-Law and order अथवा ईश्वर का ज्ञान] तथा स्वाध्याय (शास्त्रों का पढ़ना) और प्रवचन [अध्यापन अथवा वेदपाठ रूप ब्रह्मयज्ञ] [ये अनुष्ठान करने योग्य हैं]। सत्यभाषण, शास्त्राध्ययन, अध्यापन और वेदपाठ रूप ब्रह्मयज्ञ [करने चाहिये।] तप (क्लेश का सहना), शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन [करता रहे]। इन्द्रियों को वश में करना, स्वाध्याय और प्रवचन [सदैव करता रहे]। मनोनिग्रह और स्वाध्याय तथा प्रवचन [ये सदा करने चाहिएँ]। अग्नि की स्थापना और स्वाध्याय और प्रवचन [ये नित्य करने चाहिए]। हवन, शास्त्रों का पढ़ना और उपदेश

[करते रहना चाहिए]। [अतिथिसत्कार] तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन को नियम से करना चाहिए]। मानुषकर्म (विवाह आदि लौकिक व्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [करने योग्य हैं]। प्रजा [उत्पन्न करना] तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये सदा करने चाहिए। ऋतुकाल में पत्नी से समागम (प्रजन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [कर्तव्य कर्म हैं]। पौत्रोत्पत्ति (प्रजाति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [नियम से करता रहे] सत्य ही [अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा रथीतर का पुत्र सत्यवचा [मानता है]। तप [ही नित्य कर्म हैं] ऐसा नित्य तपस्वी पौरु-शिष्टि [का मत है]। स्वाध्याय और प्रवचन ही [नित्य कर्म हैं] ऐसा मुद्गल के पुत्र नाक का मत है। अत ये (स्वाध्याय और प्रवचन) ही तप हैं, वे ही तप हैं।

भाव

इस भाग मे वर्णित पाच महायज्ञो ब्रह्मयज्ञ (ऋतम् सत्यम्, तप दम शम स्वाध्याय और प्रवचनम्) देवयज्ञ (अग्नय अग्नि-होत्रम् स्वाध्याय और प्रवचनम्) अतिथियज्ञ (अतिथय मानुषम् स्वाध्याय प्रवचनम्) पितृयज्ञ (मानुषम् प्रजा प्रजन प्रजाति स्वाध्याय प्रवचनम्) भूतयज्ञ (तप, दम शम प्रजा प्रजाति स्वाध्याय प्रवचनम्)—का बडा महत्त्व माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने इन पर बडा बल दिया है। इन के विशेष वर्णन और महत्त्व के लिए देखो दयानन्दकृत पञ्चमहायज्ञविधि।

स्वामी दयानन्द का अनुवाद

इस भाग का स्वामी दयानन्द द्वारा किया गया अनुवाद बडा सरल स्पष्ट और स्वाभाविक है। वह नीचे दिया जाता है। ऊपर का अनुवाद गोरखपुर के शाकर भाष्य के अनुवाद के आधार पर किया गया है।

ऋतं च अग्निहोत्रं च० ।—

हे ब्रह्मचारिन् ! तू सत्य धारण कर, पढ और पढाया कर। सत्योपदेश करना कभी मत छोड, सदा सत्य बोल पढ और पढाया कर। हर्ष शोकादि छोड, प्राणायाम, योगाभ्यास कर तथा पढ और पढाया भी कर। अपनी इन्द्रियो को बुरे कामो से हटा अच्छे कामो मे चला विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्त करण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण मे प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ और सदा पढाया कर। अग्निविद्या के सेवनपूर्वक [आहवनीय अग्नि और विद्युत आदि को जान के—सत्यार्थप्रकाश] विद्या को पढ और पढाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ और पढाया कर। (संस्कारविधि)

इस भाग का सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास मे दिया हुआ अर्थ भी अच्छा है। वहा ऋतम् सत्यम् आदि को क्रियाविशेषण लिया है। जिज्ञासु विद्यार्थी वहा से देख लें।

अतिथयश्च प्रजातिश्च च—

अतिथियो की सेवा करते हुए पढें और पढावे। मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारो को करते हुए पढते पढाते रहे। सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढते पढाते जाए। वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढते और पढाते जाय। अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढते पढाते जाये। (सत्यार्थ प्रकाश)

सत्यमिति तप —

सत्यवादी होना तप है यह सत्यवचा राथीतर आचार्य का, न्यायाचरण मे कष्ट सहना तप है यह तपोनित्य पौरशिष्टि आचार्य का और धर्म मे चल के पढना पढाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाक मौद्गल्य आचार्य का मत है और सब आचार्यों के मत मे

यही पूर्वोक्त तप है, यही पूर्वोक्त तप है ऐसा तू जान ।' (संस्कारविधि)।

टिप्पणियां—ऋत च—तप —

ऋतम्—आधुनिक विद्वान् इस का अर्थ Law and order – नियम और अनुशासन करते हैं। ब्राह्मणों में आए इस के अन्य अनेकों अर्थों में यह 'ईश्वर' 'ओ३म्' यहां विशेष उपयोगी है। भाष्यकार शंकर ने इस का अर्थ 'शास्त्रों के ज्ञान से बुद्धि में निश्चय किया हुआ अर्थ' किया है। ऋषि दयानन्द ने इस का अर्थ 'सत्य धारण किया है। स्वाध्याय—नियम के साथ निस्स्वार्थ भाव से वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्ययन। यह नित्य कर्म है। प्रवचन—उपदेश पढ़ाना। दम — इन्द्रियों पर वश पाना। शम —मन को वश में करना। अग्नय — समभेद से अग्नियों के कई भेद होते हैं। गृहस्थियों को उन का स्थापन करना अर्थात् उन का उपयोग करना आवश्यक है। अग्निस्थापन एक क्रिया का नाम है जिस में नया गृहस्थी घर में यज्ञकुण्ड में अग्नि रख कर उस अपने गृहस्थकाल में अक्षुण्ण रखने और उस में हवन करने की प्रतिज्ञा करता है। अग्निहोत्रम्—आग जला कर मन्त्र पढ़ते हुए उस में घी अन्न आदि सामग्री डालना हवन कहलाता है। इस से वायु की शुद्धि होती है। रोग दूर होते हैं तथा स्वार्थ-त्याग की भावना उत्पन्न होती है। अतिथय —जो परम विद्वान् सदाचारी शुभचिन्तक हो तथा जिस के आने-जाने की तिथि न हो अथवा माननीय सम्बन्धी आदि हों उन अतिथि कहते हैं। अतिथि का सत्कार न करना पाप का कारण होता है। अतिथि ही गृहस्थ के दोषों का विवेचन कर सकते हैं। अतः वे उसे शुभ मार्ग पर चला कर पुण्यवान् बना देते हैं। मानुषम्— मनुष्यस्य इदं मानुषम्। मनुष्यों के कर्म —विवाह आदि। प्रजा—सन्तानोत्पत्ति। प्रजन —ऋतुकाल में पत्नी का संसर्ग। स्त्री को हर मास दूषित खून का स्राव होना है। इसे ही स्त्री का ऋतुमती होना कहा है।

ऐसा होन के ५वें दिन से १५ वें दिन तक के समय को ऋतुकाल कहते है। प्रजाति —पाते की उत्पत्ति अर्थात्—पुत्र को योग्य बना कर उसे गृहस्थ कर्म मे नियुक्त कर उस को पुन की उत्पत्ति के लिये प्रेरित करना। सत्यवचा —सत्य वच यस्य स । सत्य वाणी वाला। यहा यह एक ऋषि का नाम है। राथीतर —रथीतरस्य अपत्य पुमान् राथीतर । रथीतर का पुत्र । पौरुशिष्टि —पुरुशिष्टस्य अपत्य पुमान् । पुरुशिष्ट का पुत्र । इस का नाम तपोनित्य है। तपोनित्य का अर्थ—तपसि नित्य — तपोनिष्ठ है। मौद्गल्य —मुदगलस्य अपत्य पुमान् । मुदगल का पुत्र । इस का नाम नाक (शोकरहित) है।

(11) आचार्यानुशासनम्

१. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति ।—

२. सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।

३. आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ।

४ सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥

५. देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ।

६. यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।

७. यान्यस्माक सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि ॥२॥ नो इतराणि ।

८. ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् ।

९. श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।

१० अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः ॥

११ अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणा संमर्शिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामाः स्यु । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथा ।

१२ एष आदेश । एष उपदेश । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥

॥ इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

१ वेदम् अनुशास्ति—

अर्थ १ वेद को पढा कर (अर्थात् पढाने के पश्चात्) आचार्य आश्रम में रहने वाले (शिष्य) को उपदेश देता है —

२-३ मन्त्र व्यवच्छेत्सी —

अर्थ—२-३, सत्य बोल। धर्म का आचरण कर [स्वाध्याय से प्रमाद न कर [अर्थात् ज्ञानोपार्जन में अविरत लगे रहो]। आचार्य के लिये प्रिय (अभीष्ट) धन ला कर [अर्थात्-गुरुदक्षिणा दे, यहां से विदा ले कर विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो तथा] सन्तान परम्परा का छेदन न करो।

भाव यह है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए प्रयत्न करो। क्यों कि जब तक सन्तान उत्पन्न कर के उन योग्य नहीं बना देते तब तक तुम पितृऋण से उऋण नहीं हो सकते। तथा देश के लिए और जाति के लिए भी सन्तान उत्पन्न करना तुम्हारा कर्तव्य है।

नोट—इस का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—अपनी सामर्थ्य से बाहर आचार्य के लिये अभीष्ट धन दे कर अपनी सन्तान को दुःख में न डालना। यदि थोड़ी आय हो तो आचार्य को थोड़ा ही धन ला कर देना।

४ सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।—

अर्थ—४ सत्य से प्रमाद न करना चाहिये। धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये।

भाव—सत्य वद और धर्म चर में आदेश दिया था कि झूठ और अधर्म का परित्याग कर सत्य और धर्म का सेवन करो। पुनः दूसरे शब्दों में उसी बात को यहां कहने का अभिप्राय है कि चाहे कितने ही कष्ट और विपत्तियां आएँ तुम को सत्य और धर्म युक्त व्यवहार ही करना चाहिये। उसे कभी न छोड़ना चाहिए। यौवन धन-सम्पत्ति और प्रभुत्व के प्रभाव से असत्य और अधर्म व्यवहार न करना। तथा चाहे दूसरे लोग तुम्हारे साथ छल कपट आदि का प्रयोग करें तो भी तुम उन के प्रति ऋजु ही रहना क्यों कि सत्यमेव जयते नानृतम्

और यमा रक्षति धार्मिकम् । अन्त में सत्य और धर्म की ही विजय होगी ।

कुशलात् न प्रमदितव्यम्—

अर्थ—कुशल [आत्मरक्षा में उपयोगी] कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए

भाव—गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—योग कर्मसु कौशलम् । इसी कौशल का ओर ऊपर के उपनिषद् वाक्य में निर्देश है । क्योंकि जब तक कर्म सुप्रकार नहीं किया जायगा यथेष्ट फल नहीं देगा । कर्म करने के लिये ज्ञान का होना अत्यन्त आवश्यक है । तभी कौशलपूर्वक कर्म कर के मनुष्य कर्मयोगी बन सकता है । इस विषय में वेद कहता है—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभय सह ।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

जो कर्म और ज्ञान को साथ साथ जानता है वह कर्म से मृत्यु को जीतता है और ज्ञान से मोक्ष पाता है । इसी वेदादेश का यहां वर्णन किया है । अतः जो भी कार्य किया जाय बहुत सोच-विचार कर किया जाए । इसी भाव को चाणक्य ने आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि में रखा है ।

भूत्यै न प्रमदितव्यम्—

अर्थ—भूति [अर्थात् ऐश्वर्य देने वाले माङ्गलिक कर्मों] से प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

भाव—मनुष्य को उत्तरोत्तर उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिये । जो भी अवसर प्राप्त हो उस का समुचित उपयोग करे । अवसर को कभी भी हाथ से न खोए । परन्तु सब कुछ सत्य और धर्मयुक्त हो ।

छल, कपट और पापपूर्ण उन्नति का तो निषेध ही है। ऐसी उन्नति भूति नहीं दुभू ति है और कुफल देती है उस से सदा बचे।

स्वाध्याय प्रमदितव्यम्—

अर्थ—स्वाध्याय [=वेद के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन] और प्रवचन [वेद के अध्ययन, मनन और अनुभूति का प्रचार, व्याख्यान आदि करना] में प्रमाद नहीं करना चाहिये।

भाव—स्वाध्याय से अपनी उन्नति कर के उपदेश द्वारा दूसरों की उन्नति किया करो।

५-६ देव भव—

अर्थ—५ देवकार्य और पितृकार्यों [अर्थात् देवयज्ञ और पितृयज्ञ] को नहीं छोड़ना चाहिये। तू माता की पूजा कर। पिता की पूजा कर। आचार्य की पूजा कर। अतिथि (अभ्यागत) की पूजा (आदर, सत्कार, सेवा आदि) कर।

यानि इतराणि—

अर्थ—६ जो अनिन्द्य अर्थात् निन्दारहित सुकर्म हैं उन्हीं का सेवन करना चाहिये। दूसरों का नहीं।

७—यान्यस्माकं उपास्यानि—

[गीता में कहा है— 'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।—सब लोग उत्तम पुरुषों का अनुकरण करते हैं और उन्हें प्रमाण मानते हैं इस सिद्धांत को ध्यान में रख कर आचार्य उपदेश देते हैं—]

अर्थ—७ हमारे [=अनुकरणीय हम गुरुजनों के] जो शुभ [अर्थात् सत्य और धर्मयुक्त तथा ऊपर के उपदेश और वेदादि के आदेश के अनुसार प्रमाणित और प्रशंसित] आचरण [कर्म]

हो तुझे उन्हीं की उपासना (अर्थात सेवन, आचरण) करनी चाहिये। [इस आदेश में हीन हमारे अन्य कर्मों की उपासना] नहीं [करनी चाहिये।]

भाव—यहां ऋषि 'गुरुवाक्यं ब्रह्मवाक्यम् अथवा गुरुरेव ब्रह्म' का खण्डन करते हैं। मनुष्य अशुद्धि करता है, भ्रम में पड़ता है—इस को मत भूलना। अतः उस के जो शुभ कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करना। अन्यों का नहीं।

८ ये के च   प्रश्वसितव्यम्—

[संसार में एक से एक उत्तम ज्ञानी भरे पड़े हैं। व्यक्तिविशेष ही सर्वज्ञ नहीं है। अतः हमारे से भी श्रेष्ठ विद्वान् और ब्रह्मवेत्ता तुम्हें संसार में मिलेंगे। यह समझ कर कि हमारे आचार्य से श्रेष्ठ और कोई विद्वान् और ब्रह्मवेत्ता पुरुष संसार में नहीं है उन अन्य विद्वानों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। कदाचित् वे तुम्हें प्रसन्न हो कर कुछ ज्ञान दें जिस के लिये तुम यत्न करते हो—इस उद्देश्य से ऋषि कहते हैं—]

अर्थ—८ जो कोई [आचार्यादि धर्मों से युक्त होने के कारण] हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ [विद्वान्] और ब्रह्म (वेद और परमात्मा] के जानने वाले हों, उन का आसनादि के द्वारा तुझे आश्वासन [थकान] दूर करना पूजा सत्कार और आदर करना चाहिए]।

६ श्रद्धया   संविदा देयम्—

अर्थ—६-श्रद्धापूर्वक देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये। अपनी शक्ति के अनुसार देना चाहिए। लज्जापूर्वक (अर्थात विनय से विनम्र हो कर) देना चाहिये। (धर्म के) भय से चाहिये। दयाभाव और मित्रभाव से देना चाहिये।

भाव—हमारे शास्त्रों में दान की बड़ी महिमा कही गई है। दान समाज की स्थिति के लिये आवश्यक है। भूखे को अन्न मिलने पर, नंगे को वस्त्र मिलने पर तथा ज्ञानार्थी को ज्ञान मिलने पर संसार के बहुत से दुःख दूर हो जाते हैं। भूखा पेट भरने के लिये चोरी आदि दुष्कर्म करेगा। अज्ञानी अन्धकार से संतप्त हो अनेक प्रकार की अव्यवस्थाएं समाज में उत्पन्न करेगा। अतः दान करना चाहिये परन्तु वह श्रद्धापूर्वक किया जाए। अश्रद्धा से दिया हुआ दान तामस होता है। देखो गीता १७।२२।

हमारे शास्त्रों में श्रद्धा को बड़ा महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद में श्रद्धा पर एक पूरा सूक्त है। गीता और महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों ने श्रद्धा की महिमा गाई है। कहा है—

'अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥'

जो दान शक्ति से बाहर दिया जाता है वह कुल में तथा अपने हृदय में क्लेश उत्पन्न करता है। धनाभाव में मनुष्य पापवृत्ति का हो जाता है। तथा 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' इस उपदेश का अतिक्रमण हो जाता है जो पाप का कारण बनता है।

विनय की भी बड़ी महिमा है—'विनयाद्याति पात्रताम्'। अपि च—विनयरहित दान तामस होने के कारण कुफल देता है और धन का कारण होता है।

शास्त्रों में दया और मित्रभाव के उपदेश स्थल-स्थल पर मिलते हैं। दयावान् ही ब्रह्म को जानने का वास्तविक अधिकारी है। यजुर्वेद का उपदेश है कि—'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'—हम सब को मित्र समझें।

अतः दान उक्त उपदेश के अनुसार ही करना चाहिए।

१०-११ अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा ... तथा वर्तेथा–

किसी विषय में सदेह होने पर उसे दूर करने का उपाय बताते हुए आचार्य अनुशासन को समाप्त करते हैं।

अर्थ—१० यदि तुझे कर्म या आचार के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो तो वहाँ जो विचारशील कर्म में नियुक्त [अन्यों द्वारा किसी कर्म में लगाए हुए], आयुक्त [अपनी इच्छा से कर्मपरायण], अरूक्ष (सरल मति), एव धर्माभिलाषी ब्रह्मवेत्ता विद्वान हों, उस [प्रसग] में वे जैसा व्यवहार करें वैसा [ही तू भी] करना।

११ इसी प्रकार जिन पर सशययुक्त दोष आरोपित किए गए हो उन के विषय में वहाँ जो विचारशील कर्म में नियुक्त अथवा आयुक्त [दूसरो से प्रेरित न हो कर स्वत कर्म में परायण] सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों वे उन में जैसा व्यवहार करें तू भी उन में वैसा ही करना।

१२ एष ... उपास्यम्—

अर्थ—१२ यह आदेश [विधि है]। यह उपदेश [है]। यह वेद का रहस्य (उपनिषत) [है]। [और] यही [आचार्य की] आज्ञा [है]। इसी प्रकार [तुझे] उपासना करनी चाहिए। ऐसा ही यह आचरण करना चाहिए॥

१-४—टिप्पणियाँ—अनूच्य–अनु + √वच + ल्यप। उपनयन सस्कार के बाद पढा कर। अन्तेवासिनम्—अन्ते वासी तम्। इस का दूसरा रूप अन्तेवासी होता है। अनुशास्ति—अनु + √शास + लट् प्रथम पुरुष एक वचन। मा प्रमद —मा के योग म लुट् लकार आता है और उस के प्रारम्भिक अ का लोप हो जाता है। अत प्रमद — प्रामद। प्र + √मद + लुङ मध्यम पुरुष एक वचन। बोपदेव के मत मे

प्रमदीन और प्रमादीन रूप भी बनते हैं। आहृत्य—आ+√हृ+ल्यप्। ला कर। प्रजातन्तुम्—सन्तान की परम्परा। तन्तु—धागा, सूत्र अत परम्परा। व्यवच्छेत्सी—वि+अव+√छिद+लुङ्, मध्यम पुरुष एक वचन। मा के कारण 'अ' का लोप हो गया है। कुशलान्-शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य। भाव यह है कि शारीरिक और मानसिक उन्नति म तत्पर रहना चाहिए। भूत्यै—पचमी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग प्राप्त है। प्रमाद के योग म पचमी आती है। भूति—सामाजिक उन्नति, समृद्धि ऐश्वय आदि।

५–७ देवपितृकार्य—देवयज्ञ (अग्निहोत्र और स्वाध्याय तथा प्रवचन) और पितृयज्ञ (=सन्तानोत्पत्ति, स्वाध्याय और प्रवचन)। देखो प्रथम शिक्षा पर टिप्पणियाँ। शेष भाग मे देव और पितृकार्यो की परम आवश्यक और स्थूल व्याख्या की है। मातृदेव—माता देव यस्य स । माता को देवता—पूजनीय मानने वाला। अथवा—मातर दीव्यति, माता की स्तुति करने वाला या माता को आनन्द, तृप्ति आदि देने वाला। इसी प्रकार पितृदेव आदि शब्द बनते हैं। अनवद्यानि—न+अवद्यानि अवद्यानि। निन्दारहित। अवद्य—न+√वद्+यत्। न कहने योग्य अप्रशसनीय, निन्दित। नो—'न' के अथ मे अव्यय है। उपास्यानि—उप+√आस+य+नपु सकलिङ्ग प्रथमा एक वचन।

८ अस्मच्छ्रेयास—अस्मत्+श्रेयास। अस्मत—यह अस्मद शब्द का पचमी का बहुवचन है। प्रश्वसितव्य—प्र+√श्वस+तव्य। आराम देना चाहिए। थकान दूर करनी चाहिए।

९ श्रद्धा—श्रत+धा। सत्य का धारण। सत्य भावना से अर्थात सत्य मान कर। भिया—'भी' स तृतीया एक वचन। धमभय स। सविदा—मित्रता के भाव स। मनुष्यो को सदव मित्रता का तो

उपकार करना ही चाहिए, पर साथ ही अन्यों का भी मित्रभाव में ही उपकार करना चाहिए। देयम्—√दा+यत्।

१०–११ कर्मविचिकित्सा—कर्मणि विचिकित्सा। सप्तमी तत्पुरुष। विचिकित्सा—वि+√कित्+सन्+आ। सन्देह। वृत्त—व्यवहार। सम्मर्शिन—सम्+√मृश—+इन्। पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन। विचारशील विद्वान्, अनुभवी। युक्ता—√युज्+क्त। अपने आप काम में लगे हुए। आयुक्ता—दूसरों द्वारा काम में लगाए हुए। अलूक्षा—अरुक्षा। र और ल में भेद नहीं माना जाता है—रलयोरभेद। जो रूखे नहीं अर्थात् मीठा बोलने वाले। अभ्याख्यातेषु—अभि+आ+√ख्या+क्त। दूसरों द्वारा निन्दा किए हुए। बुरे बताए हुए।

१२ वेदोपनिषत्—वेद का गुप्त ज्ञान—रहस्य। अनुशासनम्—शिक्षा नियम। एवमुपासितव्यम्—यह द्विरुक्ति उपदेश की अनिवार्यता और महिमा को बताने के लिए की गई है। ऐसी द्विरुक्ति शिक्षा की समाप्ति को भी बताती है।

इस शिक्षा का ऋषि दयानन्द का सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में दिया गया अनुवाद भी देखने योग्य है।

.७.

ईशोपनिषत्

उपनिषद्

१ आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानो का विचार है कि ब्राह्मण काल के क्रियाकाण्ड के आडम्बर से जब लोग ऊब गये तो उस के प्रति विद्रोह की भावना ने जन्म लिया और वह उपनिषदो के रूप मे व्यक्त हुई। अत उपनिषद् ब्राह्मणो के बाद की रचनाएँ है। परन्तु स्थिति ऐसी प्रतीत नही होती। उपनिषद् वेदो के आध्यात्मिक स्थलो के ही व्याख्यान मात्र है। इन का प्रधान विषय ब्रह्म, जीव और प्रकृति तथा उन के सम्बन्ध का विवेचन है। श्री कुमार स्वामी ने तो अपने ग्रन्थ A New Approach to the Study of Veda' मे उपनिषदो की सहायता से वेद का अर्थ करने का सुझाव दिया है। ये उपनिषद् ही पिछले छै दर्शनो के मूल स्रोत माने जाते है।

२ प्रत्येक वेद के उपनिषद् अलग अलग है। इन मे से ईशोपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवा अध्याय ही है। कुछ उपनिषद् ब्राह्मण और आरण्यको के अन्तिम भाग है। कुछ स्वतन्त्र भी हैं। वैसे तो आज असख्य उपनिषद् मिलते हैं परन्तु प्रामाणिक और प्राचीन कुल १२ उपनिषद् है—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय कौषीतकि, प्रश्न, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और श्वेताश्वतर। समस्त उपनिषदो को (१) वैदिक (२) आर्ष (३) साम्प्रदायिक और (४) कृत्रिम--इन चार भागो म बाटा जा

सकता है। उपनिषदो की भाषा बडी सरल, रोचक, प्रभावोत्पादक और सप्रवाह है। वहा क्लिष्टता तो प्राय नाममात्र को भी नही है। उन म ब्राह्मणकालीन भाषा के दोषो का प्राय प्राय अभाव है। वास्तव मे भावो की प्राचीनता होते हुए भी वे भाषा के दृष्टि-कोण से अर्वाचीन ही हैं। इन मे कुछ गद्य मे है, कुछ पद्य मे और कुछ मिश्रित हैं। इन का समय ८०० से १००० ई० पू० माना जाता है। परन्तु यह सीमा सर्वसम्मत नही। सम्भवत उपनिषद् निर्माण काल बहुत पहले जाता है।

परिचय

३ यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं-शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाए हैं--माध्यदिन और काण्व। दोनो म चालीस चालीस अध्याय हैं। काण्व सहिता का चालीसवा अध्याय ही ईशोपनिषद् कहलाता है। माध्यन्दिन सहिता के चालीसवे अध्याय से इस म अल्प से भेद है।

विस्तार

४ ईशोपनिषद् उपनिषदो म पर्याप्त प्राचीन है और ग्यारह प्रामाणिक उपनिषदो म से एक है। इस म अठारह श्लोक हैं। इन के पहले और इन की समाप्ति पर अन्त म फिर एक ही समान एक शान्तिपाठ भी पढा जाता है— 'पूर्णमद पूर्णमिदम्" आदि।

विषय

५ इस उपनिषद् म छन्दोबद्ध रोचक और सरल शैली म ईश्वर, जीव तथा सृष्टिगत मुख्यो का सक्षिप्त सारभूत प्रेरक और क्रियात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन मे कर्म और ज्ञान का यथार्थ और अयथार्थ का समन्वय, आदर्श और

व्यवहार का सुन्दर सम्मिश्रण और क्रियात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है।

सार

६ यह समस्त ससार ईश्वर द्वारा व्याप्त है। वह जो भोग दे, उन्हे निर्लिप्त भाव से भोगता हुआ मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की कामना करता रहे। आत्मघाती जन अन्धकार से व्याप्त लोको मे जाते है। गतिहीन और अकेला होने पर भी वह परमात्मा सब की पहुच से बाहर है। उस मे विरोधी गुणो के युग्म भी हैं—वह गतिहीन, और गतिमान्, समीप और दूर म अन्दर और बाहर-सर्वत्र है। वह ईश्वर रोगो और शरीर से हीन, शुक्र पापहीन, शुद्ध, कवि, मनीषी, सब को वश मे करने वाला और स्वयभू है। वह व्यवस्था के अनुसार अनन्त काल के लिये अर्थो=पदार्थो का निर्माता है। अविद्या और विद्या सम्भूति और असम्भूति मे से किसी भी एक की एका तत उपासना अनुचित है। दोनो युग्मो के अगो मे साथ साथ समुचित रति चाहिए। तभी मृत्यु से तरण और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वस्तुत सत्य आकर्षक प्रलोभनो से ढका हुआ है। पूषा उस को खोल सकता है। उस की कृपा से उस के कल्याणतम रूप को देखा जा सकता है। मृत देह के जल जाने पर शरीरयात्रा समाप्त हो जाती है और प्राण वायु मे मिल जाते हैं। अत मनुष्य अपने कर्मो का और परमेश्वर का चिन्तन करे। परमेश्वर अग्नि मृत जीव को उत्तम मार्ग से मोक्ष की ओर ले जाए और मानव के पापो को नष्ट कर दे। वह सब कुछ जानने वाला है।

दर्शन

७ इस प्रकार यह उपनिषद् ईश्वर जीव और जगत् इन तीन तत्वो को आधार मान कर चलता है। यह न प्रलय की

कल्पना करता है, न सृष्टि की। मरने के बाद की स्थिति का भी कोई विशेष विस्तार या वर्णन नहीं किया गया है। नैतिक सदाचारी आदर्श जीवन से ही परमात्मा के दर्शन सम्भव हैं। अत इस उपनिषद् का प्रमुख केन्द्र सदाचार है और इस का दर्शन एकमात्र व्यावहारिक और क्रियात्मक है।

काल

८ इस का काल सहिताकाल से बहुत पीछे का मानना सम्भव नहीं। यह अध्याय ब्राह्मण ग्रन्थों के युग से पहले ही यजुर्वेद म स्थान पा चुका था। अत न्यूनतम यह १००० ई० पू० से पहले लिखा गया होगा। इस के रचयिता और उस की जीवनगाथा का कोई परिचय अब उपलब्ध नहीं है।

शान्तिपाठ का भाव

९ शान्तिपाठ उपनिषद् का अश नहीं है। किसी कार्य को आरम्भ करने से पूर्व जैसे मगल किया जाता है वैसे ही उपनिषद् के अध्ययन से पहले शान्तिपाठ किया जाता है। इस शान्तिपाठ म कहा गया है कि परमेश्वर पूर्ण है। उसी में से यह पूर्ण ससार निकलता है। परन्तु परमात्मा फिर भी पूर्ण ही रहता है।

मूल अर्थ और टिप्पणियां

१०. ईशोपनिषद् का शान्तिपाठ

पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्ति. शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ—(अद) वह [परमेश्वर] (पूर्णम्) पूरा है। (इदम्) यह [जगत्] भी (पूर्णम्) पूरा है। (पूर्णात्) पूर्ण [परमात्मा] से (पूर्णस्य) पूर्ण [परमात्मा] की (पूर्णम्) पूर्णता को (आदाय) लेकर (पूर्णम्) पूर्ण [जगत्] (उदच्यते) निकलता है। [तो भी वह परमात्मा] (पूर्णम्) पूरा (एव) ही (अवशिष्यते) बचा रहता है। (ॐ) ईश्वर (शान्ति) आधिभौतिक (शान्ति) आधिदैविक [और] (शान्ति) आध्यात्मिक दुखों से हमारी रक्षा करे।

टिप्पणियां—अद—अदस्+नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। सामान्यतः अदस से द्युलोक का और इदम् से पृथिवीलोक का बोध होता है। यहां अद ईश्वर का और इदम ब्रह्माण्ड का द्योतक है। उदच्यते—उद्+√अच्+कर्मवाच्य+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। अवशिष्यते अव+√शिष्+कर्मवाच्य+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। शान्ति—तीन बार शान्ति का प्रयोग त्रिविध दुख—आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक के निवारण की कामना का द्योतक है।

११. ईशोपनिषत्

१ ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

अर्थ—(जगत्याम्) संसार में (यत्) जो (किम् च) कुछ भी (जगत) पदार्थजात [है] (इदम् सर्वम्) [वह] यह सब कुछ (ईशा) परमेश्वर से (वास्यम्) व्याप्त है। [अतः] (तेन) उस [परमेश्वर] द्वारा (त्यक्तेन) दिए हुए [पदार्थों स्थितियों आदि] से (भुञ्जीथा) [अपना अपना] भोग प्राप्त करो। (कस्य) अन्य किसी के (स्वित) भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लालच मत करो ॥१॥

टिप्पणियां—ईशा—ईश से तृतीया एक वचन। वास्य—√वस+ण्यत। इदं॑ सर्वम्—इदम्+सर्वम्। यजुर्वेद में र्, ष् और स् से पूर्व म् का ग् बोलते हैं और उसे मुद्रण की सुविधा के लिये ॅ से द्योतित करते हैं। जगत्याम्—जगती+सप्तमी एक वचन। जगती—√गम्+क्विप्। पृथिवी, चर सृष्टि। गतिशील होने के कारण पृथिवी को गो और जगती कहते हैं। जगत्—गच्छति इति जगत्। अथवा जगमीति इति जगत। गति करने वाला चर। यह चराचर जगत् का उपलक्षण है। परन्तु ऐसा मानने की अपेक्षा 'सर्वे गत्यर्था प्राप्त्यर्था ज्ञानार्थाश्च (सब गमनार्थक धातुओं का प्राप्त करना और जानना अर्थ भी होते हैं) के अनुसार इसे प्राप्ति और ज्ञानार्थ मान कर ज्ञान और प्राप्त पदार्थ अर्थ करना अधिक प्रकरणोचित है। त्यक्त—√त्यज्+क्त। छोड़ हुए दिए हुए। सामान्य में तृतीया है। भुञ्जीथा—√भुज् भोग करना+विधि लिङ् मध्यम पुरुष एक वचन। मा गृध—मा के योग में अट्‌ हीन लुट् का प्रयोग होता है। अतः अगृध—√गृध्+लङ् मध्यम पुरुष एक वचन।—स्वित्—अव्यय है ॥१॥

२ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं॑ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः ॥

अर्थ—(इह) इस [लोक] में (कर्माणि) कर्म (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समा) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करता रहे। (त्वयि) तुम्हारे (एवम्) इस प्रकार [आचरण करने पर] (इत) इस [मार्ग से] (अन्यथा) भिन्न [या श्रेयस्कर-उत्तम मार्ग] (न) नहीं (अस्ति) है [और] (नर) मनुष्य में (कर्म) [उसके द्वारा उपर्युक्त विधि से किए गए] कर्म (न लिप्यन्) लिप्त नहीं होते है ॥२॥

टिप्पणियां—कुर्वन्—√कृ+शतृ+पुल्लिंग प्रथमा एक वचन। जिजीविषेत—√जीव्+सन्+विधि लिङ् प्रथम पुरुष एक वचन।

शतम्—शत, सहस्र आदि संख्याएं सदैव नपुंसक लिंग एक वचन में प्रयुक्त होती हैं। समा —वर्ष। यह पद सदैव स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त अभीष्ट है। लिप्यते—√लिप्+कर्मवाच्य लट् प्रथम पुरुष एक वचन ॥२॥

३. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अर्थ—(ते) वे (लोका) प्रदेश [या स्थितियां] (नाम) निःसन्देह (असुर्या) नाशक [अर्थात् दुःखदायी और] (अन्धेन) गहरे (तमसा) अन्धकार से (आवृता) आच्छादित हैं (तान्) उन [लोकों] को (प्रेत्य) मर कर (ते) वे [लोग] (अभिगच्छन्ति) प्राप्त करते हैं, (ये) जो (के) कोई (आत्महन) आत्मघाती (जना) मनुष्य [होते हैं] ॥३॥

भाव—भाव यह है कि आत्महत्या करने वाले जन घोर दुःखमय जीवन वाले जन्म को प्राप्त करते हैं। आत्महत्या शारीरिक भी हो सकती है और मानसिक भी।

टिप्पणियां—असुर्या —असुर सम्बन्धी। असुर—अस्यति क्षिपति नाशयतीत्यसुर। अत नाशक, दुःखदायी तत्त्व का द्योतक है। असुर्या को विशेषण न ले कर लोकों का नाम भी माना जा सकता है। आगे आने वाले 'नाम' अव्यय से यह अर्थ सुविधा से प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस अर्थ का कोई औचित्य न होने से वह त्याज्य ही है। कुछ लोग 'असूर्या' पढते हैं (संस्कृत टीका देखें)। वहां 'सूर्य के प्रकाश से रहित' अर्थ होगा। तमसा—तमस+तृतीया एक वचन नपुंसकलिंग। आवृत—आ+√वृ+क्त। प्रेत्य—प्र+√इ+ल्यप्। आत्महन —आत्मानं घ्नन्ति ते आत्महन ॥३॥

४. अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

अर्थ—[वह] (एकम्) एक [नामक अथवा अकेला ब्रह्म] (अनेजत्) गतिहीन होता हुआ [भी] (मनसः) मन से [भी] (जवीयः) वेगशाली (है)। (देवाः) इन्द्रियां [आदि देव] (एनत्) इस [ब्रह्म] को (न आप्नुवन्) प्राप्त नहीं कर सकते हैं [क्योंकि यह तो] (पूर्वम्) पहले ही (अर्षत्) [वहां] पहुंचा हुआ है। (तिष्ठत्) स्थिर [रहता हुआ] (तत्) वह तत् नामक ईश्वर [धावतः] दौड़ते हुए (अन्यान्) दूसरों का (अत्येति) अतिक्रमण कर जाता है। (मातरिश्वा) वायु (तस्मिन्) उस परमात्मा में (अपः) [प्राणियों के] कर्मों को (दधाति) धारण करता है ॥४॥

टिप्पणियां—अनेजत्—न एजन नञ् तत्पुरुष समास। एजत्—√एज+शतृ नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। एकम्—मन्त्र में परमात्मा या ब्रह्म को एक तद एक आदि कहा है। अतः आत्म के समान यह भी परमात्मा का नाम है। इस को एक अकेला अर्थ में भी लिया जा सकता है। जवीय—जव+ईयसुन्+नपुंसक लिंग प्रथमा एक वचन। एनत्—इदम् से नपुंसक लिंग द्वितीया एक वचन का वैकल्पिक रूप है। यह ब्रह्म—परमात्मा का वाचक सर्वनाम है। देवा—इन्द्रियां। ये दो प्रकार की होती हैं—कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां। मनुष्य इन्द्रियों के माध्यम से क्रीडा व्यवहार आदि का सम्पादन करता है चमकता है और मुदित होता है, अतः इन्हें 'देव' कहा गया है। यह पद √दिव से बनता है जिस के १—क्रीडा २—विजिगीषा ३—व्यवहार, ४—द्युति ५—स्तुति, ६—मोद ७—मद, ८—स्वप्न ९—कान्ति और १०—गति—ये दस अर्थ होते हैं। इन अर्थों से सम्बद्ध सभी पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। आप्नुवन्—√आप्+लङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। वैदिक भाषा में क्रिया के रूपों में काल का

भेद प्राप्त ग्रसित नहीं होता है और भूत काल के रूप सभी काला—वर्तमान और भविष्य को भी द्योतित करते हैं। अत वहाँ बहुधा भूतकाल के रूपों का वर्तमान काल में अर्थ किया जाता है। अर्पत्—√ऋप में लड् प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है। लौकिक रूप अर्पत होता है। तत्—तदेक नामक ब्रह्म, जिसे प्रथम पाद में 'एकम्' कहा गया है। धावत —√धाव्+शतृ+पुल्लिंग द्वितीया बहुवचन। अप - अपस (कर्म) म नपुंसक लिंग द्वितीया एक वचन। मातरिश्वा—मातरि आकाशे श्वसिति इति। वायु। वायु गति का माध्यम है—वाति गच्छति इति वायु। कर्म गति से ही किए जा सकते हैं। ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। अत वायु परमात्मा में ही प्राणियों से कर्म कराता रहता है॥ ४॥

५ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत.॥

अर्थ—(तत) वह तत् [नामक परमात्मा] (एजति) गति करता है। (तत) वह तत् (न एजति) गति नहीं करता है। (तत) वह तत् (दूरे) दूर [है], (तत्) वह तत (उ) नि सन्देह (अन्तिके) समीप [है]। (तत) वह तत् (अस्य) इस (सर्वस्य) सब कुछ के (अन्त) अन्दर है। (उ) निश्चय ही (तत) वह तत् (अस्य) इस (सर्वस्य) सब कुछ के (बाह्यत) बाहर [भी] है॥ ५॥

टिप्पणियाँ—भाव—इस मन्त्र में परमात्मा में सब प्रकार की शक्तियों और स्थितियों की सत्ता को उसमें विरोधी गुणों की सत्ता बता कर हृदयगम कराया है। वस्तुत यह प्रथम श्लोक के 'ईशा वास्यमिद सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत' का ही अनुवाद या व्याख्यान है। उ—निश्चयद्योतक अव्यय है। बाह्यत —बहिर्भव बाह्य, उस से स्वार्थ में तसित प्रत्यय॥५॥

६ यस्तु सर्वाणि भूतान्य् आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि जुगुप्सते ॥

अर्थ—(य) जो (तु) तो (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों [और पदार्थों आदि] को (आत्मनि) परमात्मा में [या अपने आप में] [स्थित] (अनुपश्यति) देखता है—समझता है, (च) और (आत्मानम्) परमात्मा [या—अपने आप को] (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में [व्याप्त अनुभव करता है] [वह] (ततः) इस [दर्शन—अनुभव] के कारण (न वि जुगुप्सते) [किसी से] घृणा नहीं करता है ॥६॥

भाव—सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा का अनुभव करने वाला जब उसके घृणित स्वरूप का अनुभव ही नहीं करेगा, सब कुछ को परमात्मा की ही विभूति के रूप में देखेगा तो उसे अरुचि और घृणा हो ही नहीं सकती। इस तथ्य को बृहदारण्यकोपनिषद के याज्ञवल्क्य—मैत्रेयी संवाद में बड़े सरल और सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया गया है—

यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं जिघ्रति तद् इतर इतरं पश्यति तद् इतर इतरं शृणोति तद् इतर इतरम् अभिवदति तद् इतर इतरं मनुते तद् इतर इतरं जानाति। यत्र वा अस्य सर्वम् आत्मैवाभूत तत् केन कं जिघ्रेत् तत् केन कं पश्येत तत् केन कं शृणुयात् तत् केन कम् अभिवदेत् तत् केन कं मन्वीत तत् केन कं विजानीयात्। [४।१४] ॥६॥

टिप्पणियां—वि जुगुप्सते—वेद में प्रधान वाक्यों में उपसर्ग क्रिया से अलग रहता है और गौणवाक्य में क्रिया से मिला हुआ समस्त रहता है। जुगुप्सते—√गुप्+सन्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन। वि पूर्वक यह रूप निन्दा घृणा और अरुचि को व्यक्त करता है ॥६॥

७. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्य् आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

अर्थ—(यस्मिन्) जिस [समय] (विजानत) ज्ञानवान् के लिए (आत्मा) आत्मा (एव) ही (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी [और पदार्थ आदि] (अभूत) हो जाती है, (तत्र) वहां [—उस समय या अवस्था मे] (एकत्वम्) [सब मे] एकता को (अनुपश्यत) समझने वाले को (क) क्या (मोह) मोह [और] (क) क्या (शोक) शोक [रह जाता है ? अर्थात् वह मोह और शोक से मुक्त हो जाता है ।] ॥७॥

टिप्पणियां—सर्वाणि— अभूत' क्रिया एक वचन म है अत इस वाक्य मे 'आत्मा' उद्देश्य है और सर्वाणि भूतानि विधेय । यदि इस के विपरीत योजना की जायगी तो क्रिया विधेयानुसारिणी हो जायगी । भूतानि—√भू+क्त+नपुंसक लिंग प्रथमा बहुवचन । सत्तावान् पदार्थ । अत 'प्राणी और पदार्थ आदि' । अभूत्—√भू+लुङ प्रथम पुरुष एक वचन । विजानत —वि+√ज्ञा+शतृ+षष्ठी बहुवचन । यहां सम्बन्ध मे षष्ठी नहीं है शेष म षष्ठी है । यदि ऐसा न मानें तो पिछले श्लोक' संख्या ६ से विरोध उत्पन्न हो जाता है । को मोह — जैसा पहले श्लोक ६ की टिप्पणी म लिखा गया है मोह और शोक तब ही हो सकते हैं जब मनुष्य अन्यो को आत्मा—(=परमात्मा स भिन्न मानता है । जब वह सब को परमात्मा के स्वरूप का प्रतिबिम्ब मान लेता है और अपने आप को भी उसी का प्रतिबिम्ब समझ लेता है तब वह एक रस, एक रूप और एक काल मे स्थित हो जाता है रसभेद, रूपभेद और कालभेद नष्ट हो जाने से मोह, शोक और दुःख अपने आप तिरोहित हो जाते हैं । एकत्वम्—एकस्य भाव एकत्वम् । एक परमात्मा का नाम है, अत एकता-परमात्मा-भाव-परमात्मा से तादात्म्य । अनुपश्यत —अनु+√दृश्+शतृ+पुंल्लिंग षष्ठी एक वचन ॥७॥

८. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम-
स्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परि भू स्वयम्भूर्याथा-
तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्यः ॥८॥

अर्थ--(स) वह [परमात्मा] (परि अगात्) सब ओर गया हुआ [=व्याप्त] है। [वह] (शुक्रम्) शीघ्रकारी [सर्वशक्तिमान्, अथवा दीप्तिमान्], (अकायम्) शरीर-रहित, (अव्रणम्) अक्षत (अस्नाविरम्) स्नायुओं से रहित, (शुद्धम्) निर्मल—पवित्र और (अपापविद्धम्) निष्पाप [है]। (कवि) क्रान्तद्रष्टा [अथवा सर्वद्रष्टा या सर्वज्ञ] (मनीषी) मननशील (परिभू) सब को वश मे करने वाला [अथवा—सर्वोत्कृष्ट] [और] (स्वयंभू) स्वयं ही सत्तावान् [उस परमात्मा न हो] (शाश्वतीभ्य) सनातन—अनादिस्वरूप (समाभ्य) वर्षो [या प्रजाओं] के लिए (याथातथ्यत) यथार्थ रूप से [अपने-अपने स्वरूप के अनुरूप] (अर्थान्) पदार्थों को (वि अदधात्) विविध रूप मे बनाया है ॥८॥

टिप्पणियां—अगात्—√इ लुङ् लकार प्रथम पुरुष एक वचन। शुक्रम्—इस की व्युत्पत्ति 'आशुकरम्'—शीघ्र करने वाला दी गई है। दयानन्द सरस्वती ने इस का भाव 'सर्वशक्तिमान्' लिया है। लोक और वेद दोनों मे यह दीप्ति और प्रकाश का भी वाचक है। अकायम्—न काय विद्यते यस्य तत्। शरीर तीन प्रकार का होता है-स्थूल सूक्ष्म और कारण। इन तीनों ही प्रकारों का यहां निषेध किया गया है। अव्रणम्—न विद्यते व्रण यस्य तत्। जख्म आदि से हीन, अर्थात् नीरोग। दयानन्द सरस्वती ने 'व्रण' का अर्थ 'छिद्र' किया है। अस्नाविरम्—न स्नावा विद्यन्ते यस्मिन् तत्। स्नाव—शिराएं, नाडी आदि के सम्बन्ध रूप बन्धन (दयानन्द सरस्वती)। शुद्धम्—√शुध+

क्त अविद्या आदि दोषो से रहित, सदा पवित्र। **अपापविद्धम्**—न पापेन विद्धम्। पाप से हर प्रकार से असम्पृक्त और अस्पृष्ट। अर्थात् कभी भी न पापयुक्त है, न पाप करता है न पापप्रिय है। **विद्ध**—√व्यध्+क्त। **कवि**—(शंकर)—सर्वद्रष्टा (दयानन्द)-सर्वज्ञ। दोनो का भाव एक ही है। **मनीषी**—मनस इषिता। सब जीवो के मनो की वृत्तियो को जानने वाला (दयानन्द सरस्वती) सर्वज्ञ (शंकराचार्य)। **परिभू**—परि भवति इति। १ सब के ऊपर-सर्वोत्कृष्ट (शंकर) २ दुष्ट पापियो का तिरस्कार करने वाला (दयानन्द)। **स्वयम्भू**—स्वयं भवति इति। अनादि स्वरूप—जिस का संयोग न उत्पत्ति, वियोग से विनाश, माता-पिता गर्भवास जन्म वृद्धि और मरण नही होते वह परमात्मा, (दयानन्द सरस्वती)। **याथातथ्यत**—यथा च तथा च यथातथा, तयो भाव याथातथ्यम् तस्माद याथातथ्यत। जो जैसे है (उन्हें) उस प्रकार। शंकर के मत मे—यथाभूत कर्म फल और साधन के अनुसार। **अर्थान्**—सृष्टिगत पदार्थ। **अदधात्**—√धा+लुङ्, प्रथम पुरुष एक वचन। **शाश्वतीभ्य**—शाश्वत—अनादि स्वरूप से अपने-अपने स्वरूप से उत्पत्ति और विनाश रहित नित्य। **समाभ्य**—यह पद 'वर्ष' का पर्याय है। अत काल का द्योतक है-अनादि और अनन्त काल म होने वाले पदार्थो का निर्माता परमात्मा ही है। स्वामी शंकराचार्य ने 'संवत्सरात्र प्रजापति' अर्थ कर के इसी भाव को अप्रत्यक्ष रूप म इंगित किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे प्रजा वाचक माना है। ॥८॥

९. अन्ध तम: प्र विशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया्ँ रताः ॥

अर्थ—(ये) जो (अविद्याम्) अविद्या की (उपासते) उपासना करते है, (वे) (अन्धम्) घोर (तम) अन्धकार मे (प्र विशन्ति) प्रवेश करते है। (उ) नि सन्देह (ये) जो (विद्यायाम्) विद्या मे

(रता) मग्न हैं (ते) वे (इव) मानो (तत) उस से भी (भूय) अधिक (तम) अन्धकार में [प्रवेश करते हैं] ॥६॥

टिप्पणिया—अन्ध तम—यह अधकार ज्ञान दृष्टि का आच्छादक अज्ञान रूपी अधकार अथवा कष्ट और आवागमन के चक्र म फसता है। अविद्या—न विद्या अविद्या। यह विद्या तो नहीं है, परन्तु विद्या के सदृश उस की जाति जसी है। जसे अब्राह्मण ब्राह्मण तो नहीं होता परन्तु उस के समान मनुष्य जाति का होता है। यह अविद्या और विद्या क्या हैं ? इस मे विद्वानो का मतभेद है। स्वामी शकराचाय इहे क्रमश कम और दवताज्ञान का वाचक मानते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत म अविद्या 'अनित्य म नित्य, अशुद्ध म शुद्ध दुख मे सुख और अनात्मा शरीरादि म आत्मबुद्धि रूप अर्थात्—ज्ञानादि गुणरहित कारणरूप परमेश्वर से भिन्न जड वस्तु है और विद्या 'शब्द, अथ और इन के सम्बध के जानने मात्र अवदिक आचरण है। उपासते—उप+√आस्+लट प्रथम पुरुष बहुवचन। भूय—बहु+ईयसुन्+नपु सक लिंग द्वितीया एक वचन। यह तम का विशेषण है। रता—√रम्—क्त+ पुल्लिग प्रथमा बहुवचन ॥६॥

१०. अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

अर्थ—[आचार्य] (विद्यया) विद्या से (अयत) और (एव) ही [फल या कार्य] (आहु) बताते हैं, [और] (अविद्यया) अविद्या से (अयत्) और [अर्थात् दूसरा ही फल या कार्य] (आहु) बताते हैं (इति) यह (धीराणाम्) [उन] विद्वानों से (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो (तत) इस [विषय] को (न) हमें (विचचक्षिरे) बताते आए हैं ॥१०॥

टिप्पणिया—आहु—√ब्रू से लट प्रथम पुरुष बहुवचन का वकल्पिक रूप है। पहले पाच—प्रथम पुरुष के तीन और मध्यम पुरुष के

पहले दो वचनों में लिट् लकार के प्रत्यय लगते हैं और ब्रू को आह् हो जाता है। शुश्रुम—√श्रु से लिट् उत्तम पुरुष बहुवचन। धीर-धियम् ईरयति इति धीर—बुद्धियों के प्रेरक विद्वान् अध्यापक और उपदेशक। कालिदास ने लिखा है—'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' अर्थात् निर्विकारचित्त ज्ञानी—रागद्वेष आदि से रहित यथार्थ वक्ता। विचचक्षिरे—वि+√चक्ष्+लिट् प्रथम पुरुष बहुवचन ॥ १० ॥

११ विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

अर्थ—(य) जो (विद्याम्) विद्या (च) और (अविद्याम्) अविद्या (तत्) इस (उभयम्) जोड़े को (सह) साथ—युगपत् (वेद) जानता है, [वह] (अविद्यया) अविद्या से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार कर (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

टिप्पणियां—वेद—√विद्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन का वैकल्पिक रूप। तत्—दयानन्द सरस्वती इसे विद्या और अविद्या के युग्म का द्योतक न मान कर पृथक् लेते हुए इस का अर्थ 'ध्यानगम्य मर्म' करते हैं। उभयम् से वे एक विद्या और अविद्या के युग्म का और दूसरे इस तत्—ध्यानगम्य मर्म का भाव लेते प्रतीत होते हैं। अविद्यया—(दयानन्द)—शरीरादि जड़ पदार्थसमूह से किए पुरुषार्थ से, (शंकर)—अग्निहोत्रादि कर्म से। मृत्युम्—(दयानन्द)—मरणदुःख का भय, (शंकर)—स्वाभाविक (व्यावहारिक) कर्म और ज्ञान। तीर्त्वा—√तॄ+क्त्वा। विद्यया—(दयानन्द)—आत्मा और शुद्ध अन्तःकरण के संयोग रूप धर्म से उत्पन्न हुए यथार्थ दर्शनरूप विद्या से। अमृतम्—(दयानन्द)—नाशरहित अपना स्वरूप या परमात्मा, (शंकर)—देवत्व भाव। अश्नुते—√अश्+लट् प्रथम पुरुष एक वचन ॥ ११ ॥

१२ अन्ध तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रता ॥

अर्थ—(ये) जो (असम्भूतिम्) असम्भूति की (उपासते) उपासना करते हैं [वे] (अन्धम्) घोर (तम) अन्धकार में (प्र विशन्ति) प्रवेश करते हैं। (उ) निःसन्देह (ये) जो (सम्भूत्याम्) सम्भूति में (रता) मग्न हैं (ते) वे (इव) मानो (तत) उस से [भी] (भूय) अधिक (तम) अन्धकार में [प्रविष्ट होते हैं] ॥१२॥

टिप्पणियां—असम्भूति—(दयानन्द)—अनादि अनुत्पन्न सत्व रजस और तमोगुणमय प्रकृति रूप जड वस्तु (शंकर)—कारण प्रकृति अथवा कामना और कर्म की बीज अव्याकृत नाम की अनात्मिका अविद्या। सम्भूति—(दयानन्द)—महत् तत्त्वादि स्वरूप से परिणाम को प्राप्त हुई सृष्टि (शंकर)—हिरण्यगर्भ नामक कार्यब्रह्म ॥१२॥

१३ अन्यदेवाहु सम्भवाद् अन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

अर्थ—[आचार्य] (सम्भवात्) सम्भव से (अन्यत्) और (एव) ही [फल या कार्य] (आहु) बताते हैं [और] (असम्भवात्) असम्भव से (अन्यत्) और [अर्थात् दूसरा ही फल या कार्य] (आहु) बताते हैं (इति) यह (धीराणाम्) [उन] विद्वानों से (शुश्रुम) सुनते हैं, (ये) जो (नः) हमें (तत्) इस [विषय] को (न) हमें (विचचक्षिरे) बताते आए हैं ॥१३॥

टिप्पणियां—सम्भव-(दयानन्द)-संयोग जन्य कार्य (शंकर) कार्य ब्रह्म। असम्भव—(दयानन्द) उत्पन्न न होने वाला कारण ॥१३॥

१४. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

अर्थ—(य) जो (सम्भूतिम्) सम्भूति (च) और (विनाशम्) विनाश (तत) इन (उभयम्) दोनों को (सह) साथ (वेद) जानता है [वह] (विनाशेन) विनाश से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार कर के (सभूत्या) सम्भूति से (अमृतम्) अमरत्व को (अश्नुते) प्राप्त कर लेता है ॥१४॥

शांकर भाष्य का भाव—स्वामी शंकराचार्य ने विनाश का भाव कार्य ब्रह्म और अमृत का प्रकृतिलयरूप अमरत्व लिया है और मृत्यु को 'अधर्म और कामना आदि दोषों से उत्पन्न अनैश्वर्य' सम्भूति को असम्भूति—अव्यक्तोपासना माना है। स्वामी शंकराचार्य का यह मत विचारणीय ही है, क्योंकि मूल मन्त्र में सम्भूति और विनाश का प्रयोग कर विनाश को असम्भूति का पर्याय माना है। आचार्य यहां व्याख्यान में पौर्वापर्य का व्यत्यय कर गए मालूम पड़ते हैं।

दयानन्दभाष्य का अनुवाद—स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य कुछ भिन्न और वैशिष्ट्यपूर्ण है। वह इस प्रकार है—

'हे मनुष्यो ' (य) जो विद्वान् (सम्भूतिम्) जिस में सब पदार्थ उत्पन्न होते उस कार्य रूप सृष्टि (च) और उस के गुण, कर्म स्वभावों को तथा (विनाशम्) जिस में पदार्थ नष्ट होते उस कारण रूप जगत् (च) और उस के गुण कर्म स्वभावों को (सह) एक साथ (उभयम्) दोनों (तत्) उन कार्य और कारण स्वरूपों को (वेद) जानता है वह विद्वान् (विनाशेन) नित्य स्वरूप जाने हुए कारण के साथ (मृत्युम्) शरीर छूटने के दुःख से (तीर्त्वा) पार हो कर (सम्भूत्या) शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप उत्पन्न हुई कार्य रूप धर्म में प्रवृत्त कराने वाली सृष्टि के साथ (अमृतम्) मोक्ष सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

इस अनुवाद में दयानन्द ने सम्भूति का 'कार्य रूप सृष्टि' विनाश का 'कारणरूप जगत' और अमृत का 'मोक्ष सुख' अर्थ लिया है।।१४।।

१५ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

अर्थ—(सत्यस्य) सत्य का या परमात्मा के ज्ञान का (मुखम्) मुख [=स्वरूप] (हिरण्मयेन) [तीव्र] प्रकाश के (पात्रेण) आवरण से (अपिहितम्) ढका हुआ [—छिपा हुआ] है। हे (पूषन्) पोषक [परमात्मन्], (त्वम्) तुम (तत्) उस [आवरण] को (सत्यधर्माय) अर्थात् स्वरूप को (दृष्टये) देखने के लिए (अपावृणु) हटा दो [—खोल दो] ।।१५।।

टिप्पणियां—हिरण्मयेन—हिरण्यस्य विकार हिरण्यन निर्मित वा हिरण्य + मयट्। हिरण्य के दो अर्थ हैं—१ सोना और २ तेज ज्योति प्रकाश। सोना भी तेज प्रधान होता है। भाव यह है कि सत्य के आगे चुंधियाने वाला असत्य वस्तुओं और प्रलोभनों का पर्दा पड़ा हुआ है अतः उसे देखना सम्भव नहीं। पात्रेण—√पा + ष्ट्रन् या त्रन्। रक्षा करने या पीने का साधन। अतः आच्छादन, ढक्कन परदा। सत्यस्य—(शंकर)— आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म (दयानन्द)– अविनाशी यथार्थ कारण। वस्तुतः यहां ब्रह्म का वर्णन प्रस्तुत है जो समस्त सृष्टि का यथार्थ कारण और सर्वत्र व्यापक है। परन्तु मानव उस के स्वरूप का साक्षात्कार करने में सांसारिक प्रलोभनों के कारण असमर्थ रहता है। अपिहित—अपि + √धा + क्त। अनेक बार अपि के 'अ' का लोप हो कर 'पिहित' रूप भी मिलता है। पिधान और अपिधान भी इसी धातु से ल्युट् प्रत्ययान्त है। मुखम्—पात्र के रूप में कल्पना करने पर इस का अभिधेय अर्थ संगत हो जायगा। इस का लाक्षणिक रूप—स्वरूप सीधा और स्पष्ट अर्थ दे देता है। पूषन्—पूषन् से सम्बोधन

एक वचन। पूषन् को ऋग्वद मे सूय का एक रूप माना जाता है, जिस के मूल मे सूय की पोषण शक्ति है। आधिभौतिक अथ मे तो यह ठीक है परन्तु आध्यात्मिक अथ मे यह परमात्मा के पोषक स्वरूप को द्योतक है। अगले मन्त्र का भी यही सकेत है। प्रकरण भी परमात्मा के वर्णन का है, सूय का नही। सत्य ज्ञान करा कर ईश्वर मनुष्य को शक्ति—पुष्टि देता है। अपावृणु—अप+आ+√वृ+लोट मध्यम पुरुष एक वचन। **सत्यधर्माय**—सत्यश्चासौ धमश्च तस्मै। परमात्मा का यथाथ स्वरूप। शाकर भाष्य ने इसे 'सत्यधर्मा उपासक' का द्योतक माना है—सत्य धम यस्य स। यह भाव भी उपयुक्त है। काण्वसहिता मे अन्तित स्वर के अनुसार यह बहुव्रीहि समास है। इस स्वर के अभाव म पहला अथ अधिक ठीक जान पडता है। अनुवाद मे उसे ही अपनाया गया है ॥१५॥

१६ पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूप कल्याणतम तत्ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुष. ॥ सोऽहमस्मि ॥१६॥

अथ—(पूषन्) हे पोषक (एकर्षे) एक मात्र ऋषि, [या अग्नि के समान तेजस्वी] (यम) [सब के] नियन्ता (सूय) उत्पादक [और प्रेरक] (प्राजापत्य) प्रजा के स्वामी [परमात्मन्] (रश्मीन्) [अपनी बन्धक प्रलोभन रूपी] किरणों [के प्रकाश] को (व्यूह) हटा लो, (समूह) [और उन्हें] समेट लो। (ते) तुम्हारा (यत्) जो (तेज) प्रकाश और (कल्याणतमम्) परम कल्याण करने वाला (रूपम्) स्वरूप [है], (ते) तुम्हारे (तत) उस [स्वरूप] को (पश्यामि) देखना [चाहता] हू। (य) जो (असौ) वह (असौ) वह (पुरुष) पुरुष [है] [अथवा, (असौ) प्राण (असौ) प्राण में (य) जो (पुरुष) पुरुष [हैं] (स) वह (अहम्) परमात्मा [ही] (अस्मि) हैं ॥१६॥

टिप्पणियां—एकर्षे—काण्व संहिता में 'एक ऋषे' पाठ है। ऋग्वेद (८।६।४१) में इन्द्र को एक ऋषि और ईशान कहा है— ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥" एकर्षि प्रश्नोपनिषद् (२।११) में विश्व का सत्पति व्रात्य प्राण और मुण्डकोपनिषद् (३।२।१०) में ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिया द्वारा उपासित अग्नि है। यम—√यम् (वश में करना, शासन करना से) +घञ् या अच्। सूर्य—√सू प्रेरित करना उत्पन्न करना से निपातन से सिद्ध होता है। इस सूर्य के समग्न प्रकाशमान अर्थ में भी ले सकते हैं। प्राजापत्य—प्रजापति एवं प्राजापत्य स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय। रश्मीन्—उणादि में रश्मि को √अश (व्याप्त करना) से बनाया गया है—जो सदा व्यापक है। रश्मि रस्सी को भी कहते हैं जो बाँध लेती है। यहाँ भी ये ही भाव अभीष्ट है। व्यूह समूह—वि और सम् पूर्वक √ऊह के लोट मध्यम पुरुष एक वचन के रूप हैं। भाव यह है कि अपने प्रलोभनों का समेट कर हटा लो। प्रलोभन भी तो ईश्वर ने ही बनाए हैं। साथ ही उपनिषदों का विचार है कि जिस पर परमात्मा कृपा करता है, वही उस के स्वरूप को देख सकता है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।' असावसौ पुरुष —शंकर के मत में यह 'याहृति रूप अवयवों वाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष" का द्योतक है। वस्तुतः 'असौ असौ' पूर्व वर्णन का निर्देशक है—वह—जो ऊपर वर्णित हुआ है—वह। अथवा-असौ-असु प्राण का सप्तमी एक वचन का रूप है—प्राण-प्राण में—प्रत्येक प्राण=प्राणी में। अहम्—यह परमात्मा का पर्याय है मैं का वाचक सर्वनाम नहीं है। इसी अर्थ में यह वाक्सूक्त, वामदेव के दर्शन और गीता में प्रयुक्त हुआ है। अस्मि—अहम् के अनुरूप क्रियापद है। √अस्+लट् उत्तम पुरुष एक वचन॥१६॥

शांकर भाष्य—स्वामी शंकराचार्य का इस का अनुवाद कुछ भिन्न है—'हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले। हे यम

(ससार का नियमन करने वाले) ! हे सूय (प्राण और रस का पोषण करने वाले) ! हे प्रजापतिनन्दन ! तू अपनी किरणों को हटा ले (अपना तेज को समेट ले)। तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है उस म देखना हू । यह जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है वह म हू" ॥१६॥

१७ वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृत ँ स्मर क्रतो स्मर कृत ँ स्मर ॥

अर्थ—[मेरा] (वायु) प्राण आदि वायु (अनिलम्) कारण रूप वायु [और] (अमृतम्) अविनाशी कारण में [लीन हो रहा है]। (अथ) और अब (इदम्) यह [मेरा] (शरीरम्) [पाञ्च भौतिक स्थूल] शरीर (भस्मान्तम्) भस्म होने वाला [अथवा भस्म होने तक रहने वाला] है। (क्रतो) हे कर्म करने वाले [मेरे] जीव (ॐ) ओ३म् (नामक परमात्मा) को (स्मर) याद करो (कृतम्) [अपने] किए हुए [कर्मों] को (स्मर) याद करो (क्रतो) हे कर्म करने वाले [मेरे] जीव, (स्मर) [ॐ को] याद करो (कृतम्) [अपने] कर्मों को (स्मर) याद करो ॥१७॥

टिप्पणियां—भाव—स्वामी शकराचार्य ने इस म मुमुक्षु की भविष्य मे होने वाली स्थिति का चिन्तन माना है। उन का अनुवाद यह है—'अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मावशेष हो जाय। हे मेरे सकल्पात्मक मन ! अब तू स्मरण कर अपने किए हुए को स्मरण कर, अब तू स्मरण कर अपने किये हुए को स्मरण कर। परन्तु ऐसा मानना विचारणीय प्रतीत होता है। इस से पहले मन्त्र म साधक परमात्मा के दर्शन के लिए उस से प्रार्थना कर चुका है। वह उस दर्शन को प्राप्त कर इस ससार से विदा हो रहा है। उस का विचार और अन्त काल का चिन्तन इस म दिया है। इस चिन्तन से सासारिक मोह उसे नहीं सता सकेंगे। क्रतो—क्रतु से सम्बोधन

एक वचन। अनु—क्रम, अत कम करने वाला। ॐ—यह परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम माना गया है। यह अ, उ और म् के मेल से बना है। यह अव्यय पद है और वर्णमाला की समस्त ध्वनियों को तथा ईश्वर के सब नामों को अन्तभूत करने वाला है। मन्त्रों के आदि और अन्त में इस के उच्चारण की प्रथा है। इसे प्रणव भी कहते हैं। इस का अकेले का भी जप बताया गया है। शङ्करभाष्य के मत में यहां यह सत्य स्वरूप अग्निसंज्ञक ब्रह्म का द्योतक है। स्मर—√स्मृ + लोट् मध्यम पुरुष एक वचन ॥१७॥

१८. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

अर्थ—हे (देव) दिव्य स्वरूप (अग्ने) परमात्मन्, (विश्वानि) सब (वयुनानि) कर्मों [और ज्ञान] को (विद्वान्) जानते हुए [तुम] (अस्मान्) हमें (राये) धन [=मोक्षधन की प्राप्ति के लिए] (सुपथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले जाओ। (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल—घोर (एनः) पाप को (युयोधि) दूर कर दो—हटा दो। [हम] (ते) तुम्हारे लिए (भूयिष्ठाम्) पुष्कल मात्रा में [अत पुनः पुनः] (नम उक्तिम्) प्रणाम के वाक्यों से (विधेम) परिचर्या [सेवा कर, अर्थात् बोलें] ॥१८॥

टिप्पणियां—अग्ने—अग्नि परमात्मा का भी नाम है। वह सब जगह विद्यमान है वह भी अग्नि के समान दाहक और प्रकाशन के गुणों से विशिष्ट है। इसे √अग, √अ ज् या अग्र + √नी से निरुक्त किया जाता है। नय—√नी+लोट् मध्यम पुरुष एक वचन। सुपथा—अच्छे

माग से । वेद के अनुरूप ही गीता ने भी मरने के बाद दो माग बताए हैं अर्चिमार्ग और धूम्रमाग । पहला उत्तम है और मोक्ष को ले जाने वाला है । यहा उसी की ओर सकेत है । राये—र+चतुर्थी एक वचन (पुल्लिग स्त्रीलिंग) । यह धन लौकिक नहीं है, पारलौकिक और आध्यात्मिक है। वयुनानि—निघण्टु मे प्रज्ञावाचक है, अत ज्ञान, शाकरभाष्य-ज्ञान और कम । विद्वान्—√विद+शतृ+पुल्लिग प्रथमा एक वचन । जानता हुआ । युयोधि—√यु से लोट मध्यम पुरुष एक वचन वदिक रूप। आधुनिक इसे लिट लकारीय लोट कहते है। अस्मत्—अस्मद से पञ्चमी एक वचन । जुहुराणं—√ह्वृ+कानच । एन —एनस द्वितीया एक वचन, नपु सक लिङ्ग । भूयिष्ठाम्—बहु+इष्ठन् +आ (स्त्री०) । नमउक्तिम्—नमस उक्ति वचनम ताम् । प्रणाम अभि वादन आदि । विधेम—√विध (वदिक धातु)+विधि लिङ उत्तम पुरुष बहु वचन ॥ १८ ॥

भाव—इस मन्त्र मे उपासक या ज्ञानी अपने ज्ञान और जीवन की चरम सीढी पर पहुच जाता है। अत वह परमेश्वर से मोक्षदान की प्राथना करता है । उस के माग की बाधाओ को निराकृत करना चाहता है । ॥१८॥

उपसहार

१२ यहा वाजसनेयी सहिता की उपनिषद—ईशोपनिषत समाप्त हो जाती है । यह नाम इस उपनिषत् के सब से पहले पद 'ईशा' से मिला प्रतीत है ' क्यो कि इसे 'ईशा वास्योपनिषत्' भी कहते हैं । उपनिषदो के इस शान्त स्फूर्तिप्रद, अज्ञान-तिमिर नाशक यथार्थ ज्ञान के व्याख्याता उपदेशो को पढ कर ही शोपन हावर न उपनिषदो को आत्मा, जीवन और मरण की शान्ति कहा था ।

वेदभारती

परिशिष्टम्

भावप्रकाशिका सुधीरिणी संस्कृतटीका

:१:

वेदमंत्राः

१. गायत्रीमत्रः

तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो न प्रचोदयात् ॥

(ऋ० ३/६२/१०, सा० १४६२, य० ३/३५, २२/६, ३०/२, ३६/३)

अय खलु मत्रो वेदाना सार इति जनाना विश्वास । अस्य ऋषिर् गाथिनो विश्वामित्र । स्तोतार गायत्रीच्छन्दसि सवितु स्तुति कृत्वा बुद्धिकर्मणो शुद्ध्यर्थ प्रार्थना कुर्वन्ति—

वय भगवत परमेश्वरस्य स्तोतारो भक्ता वा देवस्य द्योतमानस्य सवितु सर्वस्य जगदादि भूतजातस्य उत्पादकस्य परमेश्वरस्य सूर्यस्य वा तत् सर्वत्र प्रसिद्ध तत् वरेण्य–श्रेष्ठ कमनीय वा भर्ग तेज शक्ति वा धीमहि–सतत चिन्तयाम । अस्मासु धारयाम इति वा । य परमेश्वर न अस्माक सर्वेषा धिय बुद्धी कर्माणि च प्रचोदयात् शुभमार्गे कल्याणपथे प्रेरयेत् नयेत् ।

अय भाव —वय परमेश्वर ध्यायाम । सोऽस्मान् कल्याणमार्गे प्रेरयेत ।

२. भद्रकामना

विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परा सुव ।
यद् भद्र तन्न आ सुव ॥
(ऋ० ५/८२/५, य० ३०/३)

अस्य मन्त्रस्य ऋषि ऋग्वेदे तु श्यावाश्व आत्रेय', पर यजुर्वेदे तु नारायणो ऽस्ति। अस्मिन्नपि मन्त्रे सवितु स्तुति प्रार्थना च स्त । अत्रापि गायत्री छन्द ।

अस्मिन् मन्त्रे स्तोतार परमेश्वर प्रार्थयन्ते यन् तेषा पापानि कष्टानि च नश्यन्तु, कल्याण च भवेत्—हे देव प्रकाशमान सवित सर्वस्य जगदादि भूतजातस्य उत्पादक परमेश्वर सूर्य वा अस्माक सर्वेषा दुरितानि दुष्टाचरणानि दु खानि वा परा सुव दूरे प्रक्षिप, नाशय इति भाव । यत् यत्किञ्चिद् अपि भद्र कल्याणकर स्यात् तत् सर्वं वाञ्छित भद्र कल्याण सुख वा न अस्मभ्य सर्वेभ्यो भवद्भक्तेभ्य आ सुव समन्तात् प्रापय–देहि ।

अय भाव —परमात्मा एव अस्माक दु खानि पापानि च नाशयितु समर्थ, नान्य कश्चित् । अतएव स प्रार्थ्यते ।

३. दीर्घायुष्कामः

तच् चक्षुर्देवहित पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत
पश्येम शरद शत जीवेम शरद शत

शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम् ।
अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥
(ऋ० ७/६६/१६, य० ३६/२४)

अस्य मन्त्रस्य ऋषिस्तु दध्यङ् आथर्वणः । अस्य देवता सूर्यः । छन्दश्च भूरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् ॥ अस्मिन् मन्त्रे सूर्य इति नाम्ना परमेश्वरस्य जाज्वल्यमाना सर्वेषां कल्याणकारिणी सत्ता निर्दिश्य वर्षशतं यावत् स्वस्थं जीवितुं कामयन्ते भक्ताः ।

पुरस्तात् अग्रे । उपलक्षणमेतत् । अतः सर्वत्र । तत् सुप्रसिद्धं शुक्रं दीप्तिमत् शीघ्रमेव सुखादिसम्पादकं देवहितं देवेभ्यः समस्त-भूतजातेभ्यो हितं कल्याणकारि चक्षुः परमात्मनः स्वरूपम् उद् चरत् व्याप्नोति । सर्वत्र वर्तते इति भावः । तस्य परमात्मनो ऽनुकम्पया वयं सर्वे शतं शरदः वर्षाणि यावत् जीवेम श्वासादिकं धारयाम प्राणवन्तः स्यामेति भावः । एवमेवाग्रेऽपि । शतं शरदः वर्षाणि शृणुयाम शब्दादीन् आकर्णयेम । शतं शरदः वर्षाणि प्रब्रवाम सुष्ठु उपदेशादिकं व्यवहारादिशब्दं वाचान् श्रावयाम । वयं शतं शरदः शतं वर्षान् अदीनाः स्वतन्त्राः स्याम तिष्ठेम । शरदः शतात् शतमस्याया च अपि भूयः अधिकं जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम स्याम च ।

मानवस्यायुः अल्पम् एव परन्तु यदि परमेश्वरस्य कृपा स्यात् तदैव सर्वमेतत्सम्भवति । अतएव तमेव प्रार्थयते जनः । स च सर्वेषां कल्याणं विदधाति ।

केचनात्र "सूर्यस्य भानुरित्यर्थं गृहीत्वा 'सूर्यमेव प्रार्थयति जनः' सूर्यश्च स्वसामर्थ्येन सर्वेषां कल्याणं करोति" इति मन्यन्ते ।

: २ :

चरैवेति

रोहितस्यारण्ये संवत्सरचरणानन्तरं भाविनं हरिश्चन्द्रादीनां वृत्तान्तं दर्शयति—

१. अथ हेति

(अथ) [ह] रोहितस्य अरण्ये संवत्सर-वासानन्तरम् (ऐक्ष्वाकम्) इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नं हरिश्चन्द्रं (वरुणो) देवो रोगरूपेण (अग्राह)। [तस्य] वरुणेन गृहीतस्य हरिश्चन्द्रस्य (उदरं जज्ञे) जलेन पूरितम् उच्छूनं महोदरनामकं रोगस्वरूपम् उत्पन्नम्। (तद् उ ह) तद् अपि सर्वम् अरण्ये स्थितो (रोहितः) पुत्रो मनुष्यमुखात् (शुश्राव) [आकर्णयत्]। श्रुत्वा च (स) रोहितः पितरं द्रष्टुम् (अरण्याद्) [वनाद्] (ग्रामम्) [निवासं, नगरं वा] [एयाय] आजगाम।

२. तमिन्द्र इति

[तम्] आगच्छन्तं रोहितं मार्गमध्ये (इन्द्र) केनचिद् ब्राह्मण-पुरुषरूपेण [पर्येत्य] प्राप्य [उवाच] इदम् उक्तवान्। [मनाश्रान्ताय] आ समन्ताच्छ्रान्त आश्रान्तः सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तिं प्राप्तः, तद्विपरीतः अनाश्रान्तः, एकत्रैव निवासशीलः, तादृशाय। तथाविधस्य पुरुषस्य (श्री) बहुविधा संपत् (न) (मस्ति)। यद् वा—नाना—इति पदच्छेदः। श्रान्ताय सर्वत्र पर्यटनेन श्रान्तस्य नाना श्री बहुविधा संपद् अस्ति इत्यनेन प्रकारेण। [हे] (रोहित) वयं नीतिकुशलानां पुरुषाणां मुखात्

(पुष्पम) [भृत्यम]। (वरो जन) विद्यादिभि' श्रेष्ठोऽपि पुरुष (नृपद् पाप) नृषु मनुष्येषु सीदति इति नृपत्। श्रेष्ठो ऽपि बन्धुगृहेषु सर्वदा ऽवस्थित तैं अवज्ञात पापरतुच्छो भवेत। अतस्तव पितृगृहे वासो न युक्त। न चारण्ये चरतो मम सहायो नास्तीति शङ्कनोयम। (इन्द्र) एव परमेश्वर एव (चरत) तव (सखा) भविष्यति। तस्मात् (चरैव) सर्वथा अरण्ये चरस्व इत्येवमुवाच। एव बहुषु अपि पर्यायेषु द्रष्टव्यम्।

तत्रेन्द्ररोहितयो सवादे प्रथम पर्याय दर्शयित्व द्वितीय पर्याय दर्शयति।

३–४. चरैवेति

ब्राह्मणस्वरूपस्य इन्द्रस्य वाक्य श्रुत्वा (ब्राह्मण) अयम् अरण्ये (चरैव) इत्येव [मा] माम् [अवोचद्] उक्तवानिति मनसि ब्राह्मणवाक्ये महान्तम् आदर कृत्वा [द्वितीय] पुनरपि एक (सवत्सरम्) (अरण्ये) [चार] चरित्वा पश्चात् पितर द्रष्टु [स अरण्यात् ग्रामम् एयाय]। ग्राम (तम्) आगच्छन्त पुनरपि (इन्द्र) [पुरुषरूपेण] ब्राह्मणरूपेण [पर्येत्य] आगत्य एवम् (उवाच)। (चरत) पर्यटन कुर्वत पुरुषस्य (जङ्घे) (पुष्पिण्यौ) भवत। यथा पुष्पयुक्तो वृक्ष शाखा लता वा अथवा सुगन्धोपेता सेव्या भवति, एव चरतो जङ्घे श्रमजयेन सेव्ये भवत। तथैव (आत्मा) मध्यदेहो (भूष्णु) वर्धिष्णु (फलग्रहि) आरोग्यरूपफलयुक्तो भवति। यथा वर्धमानो वृक्ष कालेन फलानि गृह्णाति एव चरत पुरुषस्य बीनादिदीपनादिपाटवेन मध्यदेह आरोग्यरूप फल गृह्णाति। तथैवास्य चरत पुरुषस्य (सर्वे) (पाप्मान) सर्वपापानि (प्रपथे) प्रकृष्टे तीर्थक्षेत्रादिमार्गे (श्रमेण) तत्तद्देवतादिदर्शने तीर्थयात्रादिप्रयासेन (हता) विनाशिता सन्त (शेरे) शेरते शयाना इव भवन्ति।

यथा शयाना पुरुषा स्वकार्यं कृषिवाणिज्यादिकं कर्तुमशक्ता एव पुण्येन विनष्टा पाप्मानो नरकं हातुम् असमर्था इत्यर्थः। तस्मात् [एव] सर्वथा अरण्ये (चर), न पितुर्गृहे अवतिष्ठस्व।

तृतीयं पर्यायं दर्शयति—

५–६. चरैवेति वा इति

(भगः) सौभाग्यम् (आसीनस्य) उपविष्टस्य (आस्ते) तथैव तिष्ठति न तु वर्धते। अभिवृद्धिहेतोरुद्योगस्य अभावात्। (तिष्ठतः) उपवेशनं परित्यज्य उत्थापनं कुर्वतः पुरुषस्य भगः (ऊर्ध्वः) अभिवृद्धो उन्मुखः तिष्ठति। कृषिवाणिज्याद्युद्योगस्य सम्भावितत्वात्। (निपद्यमानस्य) भूमौ शयानस्य भगः (शेते) निद्रां करोति। विद्यमानधनरक्षादिचिन्ताया अप्यभावात् सर्वथैव विनश्यति। (चरतः) तेषु तेषु देशेषु अर्जनार्थं पर्यटनं कुर्वतः पुरुषस्य (भगः) सौभाग्यं (चरति) दिने दिने वर्धते। तस्मात् त्वं (चरैवेति) न त्वेकत्र तिष्ठ।

चतुर्थं पर्यायं दर्शयति—

७–८. चरैवेति वै मेति

चतस्रः पुरुषस्य अवस्थाः। निद्रा, तत्परित्यागः, उत्थानं, सञ्चरणं चेति। ताः च उत्तरोत्तरश्रेष्ठत्वात् कलिद्वापरत्रेताकृतयुगैः समानाः। ततश्चरणस्य सर्वोत्तमत्वाच्चरैवेति।

पञ्चमं पर्यायं दर्शयति—

९–१०. चरैवेति वै मा ब्राह्मण इति

(चरन्) [वै] एव पुरुषः क्वचिद् ग्रामे (मधु) माक्षिकं लभते। क्वचित् (स्वादुं) मधुरम् [उदुम्बरम्] उदुम्बरादिफलविशेषं [विन्दति]

लभते । एतदुभयम् उपलक्षणम् । तत्र तत्र विद्यमान भोगविशेष लभते । तत्र सूर्यो दृष्टान्त । (य) सूर्य सर्वत्र (चरन्) [अपि] (न) (तन्द्रयते) कदाचिदप्यलसो न भवति, तस्य (सूर्यस्य) (श्रेमाणं) श्रेष्ठत्व जगद्वन्द्यत्व (पश्य) । तस्मात् (चरैव) ।

इत्थमिन्द्रकृतेन रोहितोपदेशेन चरतो रोहितस्य स्वजीवने पितु आरोग्ये च कारणभूत श्रेयोलाभ दर्शयति—

११. चरैवेति वोचदिति

षष्ठे सवत्सरे पूर्ववदरण्यसचारी स ह रोहित कंचिद् (ऋषि) तस्मिन् (अरण्ये) (उपेयाय) प्राप्तवान् । कीदृशमृषिम् (अजीगर्त-) नामक [सौयवसिम्] सुयवसस्य पुत्रम् (अशनया) (परीतम्) अन्नालाभेन क्षुत्पीडितम् ।

अथाजीगर्तरोहितयो सवाद दर्शयति—

१२–१६. तस्य हेति

(तस्य) अजीगर्तस्य [शुन पुच्छ शुन शेप शुनोलाङ्गूल] शुन पुच्छादिनामका (त्रय) (पुत्रा) (आसु) । [त] पुत्रवन्तमृषि रोहित (उवाच) ।

हे (ऋषे) (ते) तुभ्यम् (अह) गवा (शत) (ददामि) यच्छामि । दत्त्वा (अहम्) (एषा) पुत्राणा मध्ये (एकेन) केनचित् पुत्रेण (आत्मान) महेह वरुणात् (निष्क्रीणै) मूल्य दत्त्वा आत्मान मोचयामीति ।

एवम् उक्त (स) अजीगर्त (ज्येष्ठ पुत्र) शुन पुच्छनामक हस्तेन (निगृह्णान) स्वसमीपे समाकर्षन् रोहित प्रत्येवम् (उवाच) । तुभ्यमेक पुत्रो दीयत (इम) [नु] शुन पुच्छ तु (न) ददामि । मम प्रियत्वाद् इति ।

ततो (माता) (कनिष्ठ) पुत्र हस्तेन गृहीत्वा एवमुवाच। (इम) शुनोलाङ्गूल मम प्रियं (तो) (एव) सर्वथा न ददामीति। तत (तौ) उभौ मातापितरौ (मध्यमे) पुत्रे (शुन शेपे) दान (सपादशतकम्) अङ्गीकृतवन्तौ ।

१७. तस्य ह शतमिति

तत (तस्य) अजीगर्तस्य (स) रोहितो गवा (शत) (दत्वा) (त) शुन शेपम् (आदाय) अवस्थित । तत (स) रोहितस्तेन शुन शेपेन सह (अरण्यात्) स्वकीय (ग्राम) प्रति [एयाय] आजगाम ।

तदागमनादूर्ध्वकालीनं वृत्तान्त दर्शयति—

१८. स इति

(स) रोहित (पितरम्) [एत्य] आगत्य एवम् (उवाच)—हे (तत) पितर् (हन्त) आवयोर्हर्ष सम्पन्न । (अहम्) (अनेन) शुन शेपरूपेण मूल्येन (आत्मान) मह्येह् वरुणात् (निष्क्रीणे) मूल्य दत्वा आत्मान मोचयामीत्यर्थ ।

१९. स वरुणमिति

तथोक्ते (स) हरिश्चन्द्रो (वरुणम्) [उपससार] उपेत्य (अनेन) शुन शेपेन ब्राह्मणेन (त्वा) त्वा [यजै] यक्ष्यामि इत्युक्तवान् ।

२०. तथेति

स (वरुण) अपि (तथा) (इति) अङ्गीकृत्यैवम् उवाच । (क्षत्रियात्) तव पुत्राद् रोहिताद् अप्ययम् (ब्राह्मण) (भूयान्) अभ्यधिक एव मम प्रिय इति ।

२१. तस्मा इति

उक्त्वा (तस्मै) हरिश्चन्द्राय कर्त्तव्यत्वेन (राजसूयम्) [प्रोवाच] उपदिदेश च। स हरिश्चन्द्रो राजसूय प्रक्रम्य तस्य मध्ये [अभिषेचनीये] यो ऽयम् अभिषेचनीयाख्य एकाह सोमयाग, तस्मिन् (तम्) (एतम्) शुन शेप पुरुष (पशुम्) (आलभे) सवनीयपशुत्वेन आलब्धु निश्चितवान्।

[ऐतरेयब्राह्मणे ३३/३]



: ३ :

शतपथब्राह्मणे

मत्स्यावतारेतिहासः

अस्मिन्नाख्याने जलप्लावनस्य कथोपनिबद्धा। तदा मनु राजते स्म। जलप्लावने उत्थिते कश्चित् मत्स्य मनो साहाय्यमकरोत्, मनुश्च सुरक्षित पृथिव्या पुन मानवीं प्रजा प्रावर्तयत्। मनु मत्स्य रक्षितवान् मत्स्यश्च मनुम्।

१ ह वै नियतमेव प्रसिद्धम् इद यत् कस्मिश्चिद् दिने प्रात उषसि एव सेवका मनवे वैवस्वताय राज्ञे मनवे। तादर्थ्ये चतुर्थी। अवनेज्यते प्रक्षाल्यते हस्तादि अनेन इति अवनेग्य मुखादिप्रक्षालनाय उदक जलम् माजह्रु आनीतवन्त। यथा अवनजनाय प्रक्षालनाय इद जलम् पाणिभ्या हस्ताभ्याम् माहरन्ति गृह्णन्ति, एव तथैव तस्य मनो अवनेनिजानस्य मुखादिक प्रक्षालयत पाणी हस्तौ एक मत्स्य मीन मापदे प्राप्त। जले एको मीन आसीत्, स मनो हस्ते जलेन सह आगच्छत् इति भाव ॥१॥

२ स मत्स्य ह किल अस्मै राज्ञे मनवे वाचम् शब्दम् उवाद कथितवान्—मा मा बिभृहि पालय। त्वा त्वाम् पारयिष्यामि रक्षिष्यामि तारयिष्यामि वा।

मनु प्रश्नमकरोत्—त्व मा मा मनु कस्मात् कष्टात् पारयिष्यसि रक्षिष्यसि तारयिष्यसि वा इति। मत्स्य उदतरत्-भविष्यति काले आगन्ता एक औघ जलप्लावन सर्वा समग्रा इमा एता जगति

वर्तमाना प्रजा प्राणिन पदार्थान् च निर्वोढा नि शेषेण पूर्णरूपेण इत कुत्रचित् नेष्यति, नाशयिष्यति च। तत तस्मात् जलप्लावनात् त्वा त्वा पारयितास्मि-रक्षिष्यामि तारयिष्यामि वा इति।

मनुरपृच्छत्—हे मत्स्य, ते तव भृति पालन पोषण च कथ केन विधिना मया कर्त्तव्या इति ॥२॥

३ स मत्स्य ह किल उवाच कथितवान्। यावत् यद। वै सुनिश्चित-मिद यत् मादृशा प्राणिन क्षुल्लका क्षुद्रका अल्पका भवाम वर्तामहे तावत् तदा न अस्माक वै सुज्ञातमिद यत् बह्वी बहुसख्याका नाष्ट्रा नाशका हिंसका भवति वर्तन्ते। अत्र बह्वीति नाष्ट्रेति च उभे पदे एकवचनान्ते स्त। अथवा-यावत्-तावतो यस्मात्-तस्मात् इति हेतुद्योतकौ एवार्थौ स्याताम्। उत तथा च मत्स्य एक मीन मत्स्यम् अन्य मीनम् एव अपि गिलति कवलीकरोति। अत मा माम् अग्रे स्वस्य पुरत कुम्भ्या मृत्तिकादिनिर्मिते कस्मिश्चित् लघौ घटे पात्रे वा बिभरासि स्थापय पालय च।

स मत्स्य अह यदा यस्मिन् दिने काले वा ताम् कुम्भीं घटम् अतिवर्धै अतिक्रम्य दीर्घ भवामि, यदा मम शरीरम् कुम्भस्य शरीरात अधिक भवेत्, अथ तदा कर्षू गर्त खात्वा भूमौ निर्मिद्य तस्या तस्मिन् गर्ते मा मा बिभरासि स्थापयित्वा पालय। स मत्स्य अह ताम् कर्षू, गर्तमित्यर्थ। मतिवर्ध अतिक्रामेयम् अथ तदा मा मा दीर्घ सजात मत्स्य समुद्रम् जलनिधिम् अभ्यवहरासि नय, तत्र च विसृज। तर्हि तस्मिन् काले वै निश्चयेनैव अहम् मतिनाष्ट्र अतीत नाष्ट्रान् नाशयितृन् हिंसकान् इति, हिंसकाना अगम्य भवितास्मि भविष्यामि। कश्चिदपि मा नाशयितु समर्थो न भविष्यतीति भाव ॥३॥

४ शश्वत् क्रमेण शीघ्रमेव भष महामत्स्य भास अभवत् यत स मत्स्य ज्येष्ठ बृहत्तम सर्वेभ्य प्राणिभ्य अधिकतम शीघ्रतम वर्धते वृद्धिम् आप्नोत्। 'सर्वे एव हि जलचरा अतिशयेन वर्धन्ते, स तु मत्स्यत्वादनाष्ट्रत्वाच्च बृहत्तम वर्धते' इति सायणाचार्यस्य व्याख्या। अय भाव –स मत्स्य असाधारण आसीत्, अत शीघ्रम् एव अवर्धत।

अय इदानीं यदा स मत्स्य मनुना समुद्रे क्षिप्त तदा मत्स्य मनुम् अकथयत्—इतिथीम्—इयत्य तिथयो यस्या सा, निर्धारिताया तिथौ इति भाव। अत्र तिथिनिर्धारण न विहित। समुद्रे मत्स्य-क्षेपदिवसात् कतमो दिवसोऽत्र अभिप्रेत इति तु न निर्दिष्टमस्ति। सायणमतेन–इयतीना दशाना द्वादशाना वा पूरणी इतिथी। शब्दोऽय 'समाम्' इत्यस्य विशेषणम्। अमुकवर्षे इति भाव। तत् स पूर्वोक्त ओघ जलसमूह आगता उत्थास्यति। तत् तदा मा मा नावम् तरणिम उपकल्प्य निर्माय उपासासै सेवस्व। नौका विरच्य मा सेवस्व, अथवा मा मत्स्यमेव नौकारूपेण प्रयुज्य ता नावम् उपासासै आश्रय। स त्व मनु ओघे जलसमूहे उत्थिते प्रादुर्भूते सति नावम् नौकाम् आपद्यासै आश्रयस्व, तत तदानीं, तस्माद् ओघात् वा त्वा त्वा मनु पारयितास्मि रक्षिष्यामि तारयिष्यामि च। इति ॥४॥

५ स मनु त मत्स्यम् एव मत्स्यस्य निर्देशम् अनुसृत्य भृत्वा पालयित्वा समुद्रम् अभि उदधौ अवजहार अत्यजत्। स मत्स्य भष मनवे यतिथी समा य वर्षं,तत् तस्मिन् समये परिदिदेश निर्दिष्टवान्, ततिथी समाम्—तत्तिथियुक्ते वर्षे नावम् नौकाम् उपकल्प्य निर्माय उपासाञ्चक्रे सेवमानोऽतिष्ठत्। स मनु ओघे जलप्लावने उत्थिते समायाते नावम् तरणिम् आपेदे आरूढवान्। त नाव मनु च स

मनुना पालित मत्स्य झष मीनो वा उत्तरगापुत्तुवे समीपे नौकाया अध आगच्छत् । मनु च तस्य मत्स्यस्य शृगे नाव नौकाया पाश रज्जुम् प्रतिमुमोच नद्धवान्–अबध्नात् । तेन बद्धेन पाशेन मनुनौकाभ्या सह स मत्स्य एतम् पुरोदृश्यमान सर्वज्ञातम् उत्तर गिरिम् हिमालय नाम उत्तरस्थ पर्वत प्रति अधिदुद्राव सवेगम् अधिजगाम । सायण 'अतिदुद्राव' इति पठति । तत्रापि अयमेव अर्थ ॥५॥

६ स मत्स्य ह खलु उवाच—उवाद् । त्वा त्वा वै नि सशयम् अपीपरम्—रक्षितवान् , अतारयमिति वा । इदानीं त्व नाव तरणि वृक्षे द्रुमे प्रतिबध्नीष्व बधान । गिरौ पर्वते ऽस्मिन् हिमालये सन्त वर्तमान त्वा त्वाम् उदक जलम् मा अन्तर्मध्ये गिरिमन्तरन्तर एव निर्भिद्य मा छैत्सीत् न नाशयिष्यति, अथवा अस्माद् देशाद् पृथक् न नेष्यति । यावद् यावद् यावद्दूर यथा यथा वा उदक जल समवायात् अधो गच्छेत् अवतरेत् , तावत् तावत् तावद् तावद् दूर, तथा तथा इति वा अन्ववसमर्पासि—अनुक्रमेण अवसर्पासि—अवतर । इति ।

स मनु ह खलु तावत् तावद् तावत् तावद् दूरे, तथा तथा वा अनु अवससर्प अनुक्रमेण अवातरत् । उत्तरस्य गिरे हिमालयस्य तद् एतद् प्रसिद्धमिद मनोरवतरणप्रदेशम् इदानीमपि 'मनोरवसर्पणम्' इति नाम्ना जानन्ति ख्यापयन्ति च जना । इति ।

स औघ जलसमूह ह खलु ता तत्काले वर्तमाना सर्वा समग्रा प्रजा प्राणिन निरुवाह नष्टा अकरोत् । मन तदा इह अस्मिन् लोके मनु एव एक एकल परिशिष्ट सजीव सुरक्षितश्च अवशिष्ट ॥६॥

[शतपथब्राह्मणे १ ८. १. १–६]

: ४ :

शतपथब्राह्मणे

मनोः प्रजातिः

[मत्स्यावतारेतिहासस्योत्तरार्धः]

१. सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चिचार

स जलप्लावनात् परिशिष्ट एकाकी मनुः प्रजाकामः प्रजाति कामयमानः इच्छन् अर्चन् देवान् पूजयन् श्राम्यन् तपश्चरन् कष्टान्यनुभवन् चचार न्यवसत्। निवसन् तत्र प्रजाकामनायाम् अपि च पाकयज्ञेन ईजे पाकयज्ञम् अयजत्। तस्मिन् यज्ञे स अप्सु जलेषु प्राणरूपेषु। 'आपो वै प्राणाः' इति शातपथी श्रुतिः। घृतमाज्यम्। दधि क्षीरज अम्लगुणयुक्त विकारः। मस्तु दधिसारः। आमिक्षा दधि जलम्, अथवा दुग्धदध्नो मिश्रितः पेयपदार्थः—लस्सीति भाषायाम्। ताम्। इत्येतानि वस्तूनि। जुहवाञ्चकार अहौषीत्। ततः तस्मात् अनुष्ठितात् पाकयज्ञात् संवत्सरे एकस्मिन् वर्षे व्यतीते एका योषित् मिश्रीभावात्मिका सम्बभूव सम्भूता प्रादुर्भूता। सा योषित् "पिब्द माना पाकधर्मात्मिका। पिब क्षरणे। आ-दकारप्रत्ययः तत्त्वेन साक्षाद् आत्मगामिफलत्वाद् आत्मनेपदम्। पिबतेर्दकारप्रत्यययोगाद् बत्वम्" इति भाष्यकारः सायणः। शरीरी पाकयज्ञ इति अर्थः अत्र सगच्छते तराम्। घृतप्रभवाद् घृतं स्रवन्ती इव उदेयाय उद्गता उदकादुत्थिता। एवञ्च सा सुस्निग्धा पिब्दमाना येन तस्यै तस्याः पदे घृतं सन्तिष्ठते

स्म। यत्र यत्र सा पद न्ययात् तत्र तत्रैव घृतस्य चिह्नमभूत्। तया इडया च मित्रावरुणौ कथमपि मनस्माते सगतौ मिलितौ। "प्राणापानौ मित्रावरुणौ" इति 'प्राणोदानौ मित्रावरुणौ' इति च श्रुतिवचनात् मित्रावरुणौ खलु प्राणापानौ, प्राणोदानौ वा। ताभ्याम् इडाया सम्मेलनमभूत् ॥७॥

२ ता हेवि

ताम् इडाम् तौ मित्रावरुणौ ऊचतु पृष्टवन्तौ-त्वं का असि इति। इडा कथितवती-अहं मनो दुहिता-पुत्री अस्मि। अथवा अहं मनुना दुःखेन हिता प्राप्ता दोहनसामग्रीभूता चास्मि। एतच्छ्रुत्वा मित्रावरुणौ पुनरूचतु -त्वमेव न कथय। त्वं तु आवयो मित्रावरुणयो - प्राणापानयो दुहिता दोहनसामग्री असि एवमेव ब्रूहि कथय। इडा तत्र स्वीकृतवती उवाच अवदत् च-न इति। अहमेव कथयितुं न पारयामि न चाङ्गी करोमि। यत य मनु एव माम् अचीजनत पाकयज्ञं कृत्वा अप्सु प्राणेषु घृतादिकं हुत्वा उत्पादयामास, अहम् इडा तस्य एव मनो दुहिता अस्मि भवामि नेतरस्य कस्यचिद्, न युवयो। तस्याम् इडायाम् अपि तु अमी मित्रावरुणौ ईपाते गतिं कुरुत। इडा अन्नभूतास्ति, प्राणापानौ च अन्नात् जायेते। अत एवेदमुक्तमिति प्रतिभाति न। अथवा-ईपाते शासन कुरुत-साधिकारौ स्त इति भाव स्यात्। तद्वा तत् मित्रावरुणयो अधिकारं वा जज्ञौ जानाति स्म वा अथवा तद् न जज्ञौ न जानाति स्म इति तु न जानीमहे। सा तु अति तौ अतिक्रम्य तत् स्थानं परित्यज्य इयाय गतवती। सा इडा मनुम् मनुसमीपम् आजगाम आगच्छत ॥८॥

३. ता ह मनुरिति

मनु ताम् इडा दृष्ट्वा उवाच पप्रच्छ-त्व का असि इति। मत्समीपे च किमर्थमागतवत्यसि। सा इडा उदतरत्-अह तव मनोरेव दुहिता दु खेन प्राप्ता दोहनसामग्रीभूता पुत्री अस्मि। मनु पुन पप्रच्छ-हे भगवति, त्व मम मनो दुहिता-दु खेन प्राप्ता दोहन सामग्रीभूता पुत्री इति आत्मान कथ कस्मात् कारणात् कथयसि। सा इडा अकथयत्-त्व या अमू ता पूर्वम् अप्सु जलेषु आपोषु घृतम् आज्य, दधि क्षीरजं पदार्थविशेष, मस्तु दधिसारम्, आमिक्षाम् दुग्धदध्नो मिश्रणजनित पेयपदार्थ चेति आहुती हवींपि अहौषी अजुहोत्, तत ताभ्य माम् अजीजनथा उत्पादयामास। सा अहम् आशी कल्याणकारिणी वा मगलभूता वा भद्राय कामो वा अस्मि। अत ता तादृशीं भद्रकारिणीं मा मा यज्ञे प्रजोत्पादनकर्मणि अवकल्पय अङ्गीकुरु-सहचरीं-पत्नीं कुरु। चेद् यदि वै अवश्य मा मा यज्ञे प्रजोत्पादनकर्मणि अवकल्पयिष्यसि सहधर्मचारिणीं विधास्यसि, प्रजया सन्तानेन पशुभि गवाश्वादिभि बहु समृद्ध भविष्यसि। बह्वी प्रजा पुष्कलपशुसमूह च लप्स्यसे इति भाव। याम् उ या का चित् खलु आशिष कामनाम् आशासिष्यसे अभिलषिष्यसि, सा आशी कामना ते तव सर्वा समग्रा समर्द्धिष्यते सिद्धा भविष्यति। इति अनेन इडाया आग्रहेण ताम् एतत् एताम् इडा स मनु यज्ञस्य मध्ये सन्तानोत्पादने अवाकल्पयत् अङ्गीकृतवान्। एतद् एव यज्ञस्य क्रतो कर्मणो मध्यमस्ति यत् प्रयाजानुयाजयो अन्तरा मध्यम् अस्ति। "प्राणा वै प्रयाजानुयाजा" अत प्राणयो मध्ये घृतदध्यादीनाम् आहुतिरेव यज्ञस्य मध्ये इडाया मनुद्वारा अवकल्पनमस्ति ॥६॥

४. तयार्चन्निति

प्रजाकाम सन्तान कामयमान स मनु तया इडया सह अर्चन् दर्शपूर्णमासयो देवान् पूजयन् श्राम्यन् तप कुर्वन्, कष्टानि अनुभवन् इति भाव । चचार व्यवसत् गार्हस्थ्यजीवनलक्षण यज्ञमकरोत् । तया इडया सहधर्मचारिण्या शक्तिभूतया वा स मनु इमा जगति विद्यमाना प्रजाति सन्तति प्रजज्ञे उत्पादयामास, या इय मनो प्रजाति प्रजा कथ्यते स्मर्यते वा । जगति सर्वे जाता जनिष्यमाणा च स्त्रीपुरुषा मनो प्रजातित्वादेव मानवा उच्यन्ते । स मनु या का च आशिष भद्र कल्याण कामना वा येनया लालसया आशास्त लब्धुमैच्छत्, सा आशी सर्वा सर्वथा अस्मै अस्य मनो कृते समार्ध्यत सफला सिद्धा वाभूत्। मनु सर्वान् कामान् तया इडया सहधर्मचारिण्या प्राप्तवान् इति निष्कर्ष । अथवा याम् उ एनया इति पदच्छेद स्यात्। एनया इति इडाया द्योतक पदम्। एनया अनया इडया इति भाव ॥१०॥

५. सैषेति

निदानेन अनुसन्धानेन लक्षणैर्वा ज्ञायते यद एषा या मनो दुहिता आसीत्, अप्सु घृतादीनामाहुतिभ्य उत्पन्नया यया च मनु प्रजाति जनयामास, सर्वां च कामना लब्धवान्, मनुना च या यज्ञमध्ये अवकल्पिता सा खलु यत् या इडा इति नाम्ना प्रसिद्धा। सा च इडा पात्रस्था सामग्री, पशवो वा । उक्तमस्ति शतपथब्राह्मणे ऽग्रे ऽनुपदमेव–'पशवो वा इडा' इति, "स समवदायेडाम् । पूर्वार्द्धे पुरोडाशस्य प्राशीर्य पुरस्ताद् ध्रुवायै निदधाति, ताँ होत्रे प्रदाय दक्षिणात्येति" इति च ।

स जनः यः ह खलु एव विद्वान् जानन् इडया पुरोडाशादिना चरति प्राणयज्ञं सम्पादयति, एतां मानवीं प्रजातिं प्रजां सन्तानं प्रजायते उत्पादयति, यां मनुः प्राजायत उत्पादयामास। वेनया लालसया, अथवा उ खलु एनया इडया यां कां च आशिषं कामनां भद्रं वा आशास्ते कामयते सा कामना भद्रं वा अस्मै जनाय सर्वा सम्पूर्णा समृद्ध्यते पूर्णा सञ्जायते ॥११॥

अस्मिन् भागे ब्राह्मणकारः सूचयति यद् आख्यानमिदं यथार्थम् घटितेतिहासरूपेण न ग्राह्यम्। अत्र रूपकमाश्रित्य इडाप्रयोगस्य महत्त्वमेव प्रतिपादितमस्ति। इति।

[शतपथब्राह्मणे १. ८. १. ७–११]



: ५ :

ऐतरेयब्राह्मणे शुनःशेपाख्याने

वरुणस्य तितिक्षा

१. अथेति

(अथ) सम्प्रति। (एन) पुत्रार्थिन हरिश्चन्द्रम् (उवाच) नारद ऋषिनभान्–हे हरिश्चन्द्र पुत्रप्राप्त्यर्थं त्व (राजान) जगत नियन्तार (वरुण) देवम् (उपधाव) प्रार्थयस्व–हे वरुण, एतादृशीं कृपा विधेहि यया (मे) मम (पुत्र) सूनु (जायताम्) उत्पद्येत। यदि अह पुत्र लभेय, तर्हि (तेन) पुत्रेण अह (त्वा) त्वा तुभ्य वरुणाय (यजै) यक्ष्यामि बलिरूपेण उपाहरिष्यामि।

२–५. तथेति

हरिश्चन्द्र नारदस्य उपदेशानुसार कर्तुं सहमति प्रकाशयन्नाह–(तथा) एवमेवाह करोमीति। (स) हरिश्चन्द्र (राजान) जगत स्वामिन (वरुण) देवम् (उपससार) उपागच्छत् प्रार्थयामास च–(मे) मम (पुत्र) (जायताम्) उत्पन्न स्यात्। अह (तेन) पुत्रेण (त्वा) त्वा लक्ष्यीकृत्य (यजै) यज्ञ करिष्यामि। वरुणोऽपि तस्य प्रार्थना समयमिम च स्वीकृत्य आह–(तथा) एवमस्तु। तव पुत्रो भविष्यति। एव (तस्य) हरिश्चन्द्रस्य (पुत्र) सूनु (जज्ञे) उदपद्यत। तस्य (नाम) (रोहित) इति कृतमभूत्।

६–२४.

इदानीं बहुभि. पर्यायै वरुणस्य उक्ति हरिश्चन्द्रस्य प्रत्युक्तिश्च प्रतिपाद्यते । प्रथम वरुण रोहितस्य बलि याचते, हरिश्चन्द्रश्च व्याजेन केनचिद् समयमतिक्रामति । वरुणश्च रोहितस्य यौवन प्राप्तिपर्यन्त हरिश्चन्द्रस्य व्याजान् शृण्वन् सहते । इयमेवात्र वरुणस्य तितिक्षा । अत्र समानाना शब्दवाक्याना व्याख्या पुन पुन न कृता, एकवारमेव व्याख्यान प्रदत्त, सुगमत्वात् ।

६–८. त होवाचेति

हरिश्चन्द्रस्य पुत्रे जाते (स) वरुण (त) हरिश्चन्द्रमुवाच अकथयत्-(वै) खलु (ते) तव (पुत्र) सूनु (अजनि) उत्पन्नो जात । (अनेन) पुत्रेण (मा) मा-मह्य (यजस्व) उपाहर । (स) हरिश्चन्द्र (ह) खलु (उवाच)-यदा यस्मिन् काले वै खलु पशु यज्ञे उपाहरणीय जन्तु, अत्र बालक (निदश) अतिक्रान्तानि दश दिनानि यस्मात्, स (भवति), जन्मनो दश दिनेभ्य पश्चादिति भाव । (अथ) तदा (स) पशु (मेध्य) यज्ञार्ह-यागयोग्य (भवति) जायते । अत अय बालक अपि-निदश (नु) खलु (अस्तु) भवतु । (अथ) तदा (त्वा) तुभ्य (यजे) यज्ञ करिष्यामि । वरुण अगी अकरोत्-(तथा) एवमस्तु । अय बालक निर्दशो भवतु, तदा मदर्थे त यजसि ।

६–११. स हेति

(स) रोहित निर्दश (आस) बभूव । यदा वा इति-अय भाव-हरिश्चन्द्र कथयति-मन्ये अशौचस्य दश दिनानि तु व्यतीतानि,

पर दन्तानामभावे अस्य अवयवा न सम्पूर्णा । विकलावयव न यागयोग्य । अत दन्ता आगच्छेयु , तदैव होतव्यो ऽय बालक ।

१२–२१. तस्य हेति

(जज्ञिरे) उत्पन्ना जाता । (अज्ञत) जाता । लुङि रूपमिदम् । (पद्यन्ते) पतन्ति । अलीका दन्ता पशो अगपूर्तिं न कुर्वन्ति, अत ते पतन्तु । (पेदिरे) पद्धातोर्लिटि रूपम्, अपतन् । (अपत्सत) लुङि रूप तस्मादेव धातो, स एवार्थ । पुनर्जायन्त इति–पुनरुत्पन्नाना स्थिरत्वेन सपूर्णावयवत्वात् पशु मेध्य भवति ।

२२–२३ क्षत्रिय इति

(क्षत्रिय) राजन्यकुलोत्पन्न बालक । यद्यपि अय सम्पूर्णावयव सजात तथापि अय क्षत्रियपुत्र अस्ति । अत स्वजात्या अनुरूप (सान्नाहुक) सनाह धनुर्बाणकवचादिरूप सभार धारयितु शीलम् आचार यस्य स तथाविध भवतु । तदा स्वजात्युचितव्यापारसपूर्तौ एव मेध्यत्वम् । अत रोहित (नु) क्षिप्रमेव सनाह प्राप्नोतु ।

२४–२७ स ह सनाहमिति

(प्राप्त) प्राप्तज्ञान । शस्त्रा दधारणे समर्थ युवाभूत् । वरुणस्य रोहितयज्ञायानुरोधे स हरिश्चन्द्र रोहित यष्टुमगीकृत्य तम् (आमन्त्रयामास) आमत्रयन्, उवाच च । (तत) प्रिय पुत्र । उपलालनार्थ पुत्रे पितृवाचिततशब्दप्रयोग इति सायणाचार्य । पर ततवद् अय शब्द स्नेहद्योतक सम्बोधनशब्द एव । (अयम्) एव वरुण (त्वा) रोहित (मह्य) हरिश्चन्द्राय अनेन समयेन (अदात्) दत्तवान्, यदह त्वयि जाते त्वया अस्मै यक्ष्य इति । त्वयि जाते तु मया यज्ञ न

कृतम् । (हत) पर महद् दु खमिव यद् इदानीं तु मया समय अनुसर्तव्य । अत (मह) हरिश्चन्द्र (त्वया) रोहितेन (इम) वरुण (यजै) यक्ष्ये । यज्ञे तव बलिमस्मै प्रदाय प्रतिज्ञा पूरयिष्यामीति भाव ।

२८. स ह नेति

एतत् श्रुत्वा रोहित स्वबलिदानाद् बिभ्यद्, हरिश्चन्द्राय वचन तिरस्कृत्य (ह) खलु (न) मयास्मै यज्ञ न करिष्यसि । नाह तव प्रस्तावमुररीकरोमि । एवम् (उक्त्वा) कथयित्वा (स) रोहित (धनु) शरासनम् (आदाय) गृहीत्वा (अरण्य) वनम् (उपातस्थौ) अगच्छत् । तत्र च (अरण्ये) वने स (संवत्सरम्) एक वर्षं यावत् (चचार) अभ्रमत् न्यवसत् वा । धनुर्ग्रहणमात्मरक्षायै एव ।

[इतो ऽग्रिमा कथा पूर्वमेव "२ चरैवेति" इति पाठे प्रत्ता वर्तते । तत्र द्रष्टव्या ।]

[ऐतरेयब्राह्मणे ३३/२]



: ६ :

४ तैत्तिरीयोपनिषदि

शिक्षावल्ली

1 तपः

किं किम् अनुष्ठातव्यमिति प्रतिपादयति—ऋत यथाशास्त्र यथाकर्त्तव्य बुद्धौ परिनिश्चितम् अर्थमिति शङ्कराचार्या । सत्यधारण मिति दयानन्दस्वामिन । नियमानुशासने इत्याधुनिका । वेदा, ईश्वरो वेति ब्राह्मणग्रन्था । स्वाध्याय प्रतिदिनम् अव्यवहित नि स्वार्थ-भावेन वेदादिशास्त्राणामध्ययनम् । प्रवचनम् अध्यापन ब्रह्मयज्ञो वा । एतानि ऋतादीनि अनुष्ठेयानि इति वाक्यशेष । एव सर्वत्र वाक्यशेष ऊहनीय । सत्य च सत्यवचन यथाव्याख्यातार्थं वा । यथादृष्ट यथानुभूत यथाज्ञात च सत्य भवति । तप कृच्छ्रादि, क्लेश-सहत्वमिति भाव । दम इन्द्रियजय । शम अन्त करणोपशम । अग्नय गार्हपत्यदक्षिणाहवनीयादिरूपा आधातव्या । अग्निहोत्र साय प्रात मन्त्रपूर्वकम् अग्नौ आहुतिप्रक्षेप । तद् होतव्यम् । अतिथय विद्वास सदाचारिण हितकारिण अभ्यागता जना, ते पूज्या सत्कर्तव्या । मनुष्यस्य इदम् मानुष लौकिक सव्यवहार । यथास्थिति यथाप्राप्त तत्सर्वं कर्त्तव्यम् । प्रजा सन्तानोत्पत्ति कर्त्तव्या । प्रजन ऋतौ ऋतौ भार्याभिगमनम् । प्रजाति पौत्रोत्पत्ति । पुत्र गृहस्थकर्मणि प्रजननाय निवेशयितव्य । एतानि सर्वाणि कर्माणि स्वाध्यायप्रवचनाभ्या सह नित्य सम्पादनीयानि ।

स्वामिशङ्कराचार्य लिखति–"सर्वेरिते धर्मभिर्युक्तस्य स्वाध्याय प्रवचने यत्नतो ऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम्। स्वाध्यायाधीन ह्यर्थज्ञानम्, अर्थज्ञानायत्त च पर श्रेय, प्रवचन च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च। अत स्वाध्यायप्रवचनयोरादर कार्य।"

सत्यमिति सत्यमेव अनुष्ठातव्यम् इति सत्यवचा राथीतर मन्यते। सत्यवचा –सत्यमेव वच यस्य स, यथार्थवचन। अथवा सत्यवचा नाम राथीतर रथीतरस्य गोत्र–वशीय राथीतराचार्य। तप इति तप एव कर्त्तव्यम् इति तपोनित्य पौरुशिष्टि उपदिशति। तपोनित्य तपसि नित्य तप पर। अथवा तपोनित्य इति नाम पौरुशिष्टि पुरुशिष्टस्य अपत्य पुमान् पौरुशिष्टिराचार्य। स्वाध्यायप्रवचने एव अनुष्ठेये इति नाको मौद्गल्य प्रतिपादयति। नाक क सुखम्। न कम् अक दुःखम्। न अक विद्यते यस्य स नाक सुखी जन। अथवा नाको नाम मुद्गलस्य अपत्य पुमान् मौद्गल्य आचार्य।

इदानीम् तैत्तिरीयोपनिषत्कार प्रकरणमुपसहरन् स्वकीय मत ददाति–तत् स्वाध्याय हि एव तप। तत् प्रवचन हि एव तप। अत एते स्वाध्यायप्रवचने एव सर्वदा अनुष्ठेये। अय भाव –स्वाध्यायेन सर्वविषयाणा सत्यतपोदमशमादिकर्मणा ज्ञान भवति। प्रवचन च तदैव भवति यदा जन तत्सर्वं स्वयमेव जीवने व्यवहारे च सम्पादयति यत्किमपि स उपदिशति। अत स्वाध्यायप्रवचनयो कृतयो सर्वाणि कर्माणि सम्पादितानि भवन्ति। वैशद्यार्थं छात्राणा सुखाववोधायैव विस्तरेण तत्तत्कर्मणा शब्दश उल्लेखो विहित आचार्येण।

[इति नवमो ऽनुवाकः]

11 आचार्यानुशासनम्

अस्मिन् अनुवाके आचार्यः ब्रह्मज्ञानात् पूर्वं नियमेन कर्त्तव्यानि श्रौतस्मार्तादिकर्माणि उपदिशति । अनुशासनं पुरुषसंस्काराय भवति । संस्कृतस्य हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यते इति स्वामि-शङ्कराचार्यः ।

वेदम् ऋग्वेदादिकम् अनूच्य अध्याप्य । आचार्यः गुरुः । मनुमतेन तु वेदस्य अध्यापयिता एवाचार्यः भवति । अन्तेवासिनं गुरुकुलनिवासिनं शिष्यम् अनुशास्ति साररूपेण कर्त्तव्यं व्यवहार-मुपदिशति ।

सत्यं यथाप्रमाणावगतं वचः वद ब्रूहि । तथैव धर्मम् अनुष्ठेयानि कर्माणि आत्मस्थित्यै वेदादिषु वर्णितानि चर व्यवहर । स्वाध्यायाद् अध्ययनात् मा प्रमदः प्रमादम् उपेक्षां मा कार्षीः । आचार्याय गुरवे प्रियम् इष्टं धनम् आहृत्य आनीय समर्प्य च कृतविवाहः प्रजातन्तुं प्रजायाः प्रसरं पालनपोषणे वा मा व्यवच्छेत्सीः न भिन्धि । यथा वंशकर्मपरम्परे साधु प्रसरतः तथैवाचरणीयम् । 'अनुत्पद्यमाने ऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः' इति शङ्कराचार्यः ।

सत्यात् न प्रमदितव्यं सत्यस्य उपेक्षा न कर्त्तव्या । अनृतभाषणं व्यवहारादिकं न कर्त्तव्यमिति भावः । धर्मात् न प्रमदितव्यं प्रमादो न कार्यः । कर्त्तव्यानि कर्माणि इहलोके परलोके च स्थितिकारकाणि

नित्यम् अव्यवहित च सम्पाद्यानि। एव कुशलाद् आत्मरक्षार्थात् कर्मण न प्रमदितव्यम्। भूति मङ्गलम् ऐश्वर्यं वा। तस्यै भूत्यै भूत्यर्थात् ऐश्वर्यार्थात् मङ्गलयुक्ताद् वा कर्मणो न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय अध्ययनम्। प्रवचनम् अध्यापनम् उपदेशश्च। ते हि नियमेन कर्त्तव्ये। एवमेव देवपितृकार्याभ्या देवयज्ञात् पितृयज्ञात च न प्रमदितव्यम्। एतानि सर्वाणि पूर्वमुक्तानि कर्माणि नित्यमेव सम्पाद्यानि।

मातृदेवो माता देवो यस्य स मातृदेव, मातु पूजक इति भाव। तादृश भव त्वा। एव पितृदेव पितु पूजक, आचार्यदेव आचार्यस्य पूजक अतिथिदेव अतिथीना सत्कर्त्ता भव। एते सर्वदा एव सत्कर्त्तव्या, तेषामुपदेशश्च पालनीय।

यानि अपि च अन्यानि अनवद्यानि अनिन्दितानि शिष्टाचारादि लक्षितानि शिष्टै अभिनन्दितानि आदृतानि च कर्माणि स्यु, तानि त्वया सेवितव्यानि कर्त्तव्यानि। इतराणि निन्दितानि शिष्टजनै कृतान्यपि नो न सेवनीयानि। यानि अस्माकम् आचार्याणा सुचरितानि शोभनचरितानि सदाचारपरायणानि कर्माणि शास्त्रानुकूलानि सन्ति तानि एव त्वया उपास्यानि अनुष्ठातव्यानि, नियमेन कर्त्तव्यानि इति भाव। इतराणि अतो विपरीतानि अस्माकमपि चरितानि नो न अनुकरणीयानि।

ये के च विशेषगुणयुक्ता आचार्यत्वादिधर्मै विशेषिता अस्मत् अस्मत्त श्रेयास प्रशस्यतरा ब्राह्मणा वेदज्ञा ब्रह्मज्ञानिनो वा तव गृहे आगच्छेयु, तेषा त्वया आसनेन आसनदानादिना सत्कारेण

प्रश्वसितव्य श्रम अपनेतव्य । सर्वथा अतिथिसत्कारपरायणो भव इति भाव । अथवा-गोष्ठ्ययादिषु एतादृशेभ्यो विद्वद्भ्य उच्चासनानि प्रदाय समुचित आदर करणीय । तेषामुन्नतौ तेभ्य अनभ्यसूयन् तेषामुपदेशस्य सार गृहाण इति वा भाव स्यात्।

किं च यत् किंचिदपि देय तत् श्रद्धयैव दातव्यम् । अश्रद्धया श्रद्धाया अभावे ऽपि त्वयार्थिभ्य धनादिक देय दातव्यम् । अश्रद्धया अदेय किमपि न दातव्यम् । श्रिया विभूत्या स्वशक्त्यनुसारमेव देय दातव्यम् । ह्रिया लज्जया च देयम् । भिया भीत्या अपि देयम् । सविदा दयामैत्र्यादिकार्येण देयम् । यथाकथंचिदपि स्यात् तथा दानमवश्य दातव्यम्, अन्यथा स्वयमेव—आत्मविभूतिफल सेवमान पापीयान् भविष्यसि ।

अथैव वर्तमानस्य यदि कदाचित् ते तव मनसि श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वा आचारलक्षणे विचिकित्सा सशय स्यात्, ये तत्र तस्मिन् देशे काले च ब्राह्मणा वेदस्य ब्रह्मणो वा ज्ञातार बुधा । सम्मर्शिन विचारशीला । युक्ता वृत्ते वा अभियुक्ता स्वय प्रवृत्ता कर्मणि। आयुक्ता अपरप्रयुक्ता । अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतय — प्रियाचरणा । धर्मकामा धर्मपरायणा, अन्येषा चापि धर्मे प्रेरका । स्यु भवन्तु। ते यथा येन प्रकारेण तत्र तस्मिन् कर्मणि वृत्ते आचारे वा वर्तेरन् व्यवहरेयु, तथैव त्वमपि वर्तेथा व्यवहरे ।

अथ अभ्याख्यातेषु केनचिद् अभ्युक्तेषु सदिह्यमानेन दोषेण सयोजितेषु कर्मसु वृत्तेषु च तथा वर्तेथा व्यवहरे यथा तत्र तथाविधेषु कर्मसु प्रमाणभूता वेदज्ञा ब्रह्मविद विचारशीला कर्मवृत्तयो स्वय

प्रवृत्ता अपरैश्चापि प्रवर्तिता मधुरव्यवहरणशीला धर्मपरायणा वर्तेरन् व्यहरेयु ।

एप आदेश विधि । एप उपदेश पित्राचार्यादीना पुत्र शिष्यादिभ्य अनुशासन शिक्षा वा अस्ति । एषा वेदोपनिषद् वेदस्य रहस्य सारो वा । एतद् एव अनुशासन सस्कार नियमेन नित्य पालनीया आज्ञा वा । एव यथा पूर्वमत्र उक्त तथा सर्वम् उपासितव्य सेवितव्य व्यवहर्तव्यम् । एव चैतद् उपास्य सर्वमिदम् अनिवार्यरूपेण नियतमेव पालनीयम् । पुनर्वचनम् आदरार्थं बलाधानाय वा ।

इत्याचार्यानुशासनम् ।

[तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षावल्ल्याम् एकादशोऽनुवाकः]



वेदभारती

शब्दानुक्रमणिका

[पदों के आगे पहले पाठसख्या और उस के आगे सदर्भसख्या दी गई है ।]

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।। ॐ

ॐ द्यौ शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्ति पृथिवी
शान्तिराप शान्तिरोपधय शान्ति ।
वनस्पतय शान्तिर्विश्वे देवा शान्ति-
र्ब्रह्म शाति सर्वँ शाति शातिरेव
शाति सा मा शातिरेधि ।। ॐ

ॐ शाति शाति शाति ।। ॐ

इस पट्टी को पिन से या हलका सा गोद लगाकर बन्द करे

बुकपोस्ट

यहा १० पैसे का
टिकट लगाएे

पाठक की सम्मति और सुझाव

श्री सुबोध कुमार गुप्त, बी० ए०,
अध्यक्ष, पूवस्नातकीय अध्ययन विभाग,
भारती मन्दिर अनुसंधानशाला,
आर–२, विश्वविद्यालयपुरी,
जयपुर-४